भरत-दर्शन

लेखक

झुन्नीलाल वर्मा

बी० ए०, एल्-एल० बी०, एडवोकेट,

दमोह (म० प्र०)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), लि०, इलाहाबाद

१९५६

[मूल्य २।)

मंगलाशीष

श्रीराम

भरत के विषय में लेखक ने यह प्रबन्ध लिखकर मेरी दृष्टि मे अपनी लेखनी का अच्छे से अच्छा उपयोग किया है। वाल्मीकि ने उन्हें आकाश के समान निष्पंक कहा है। धर्म की भावना से वे राम से भी बलवत्तर माने गये हैं—

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।

तुलसीदास का कहना ही क्या? भरत ने ही उन्हें राम के सम्मुख उपस्थित किया था।

मुझे आशा है, लेखक का परिश्रम सफल होगा और यह पुस्तक सर्वत्र पढ़ी-सुनी जावेगी।

राज्यसभा,
दिल्ली

मैथिलीशरण

भूमिका

रामकथा में इतना आकर्षण है कि भारत ही नहीं भारत के बाहर की भी अनेक भाषाओं में वह कथा अनेक कवियों एवं लेखकों द्वारा लिखी गई है। इस अनेकता में उसके अनेक रूप भी हो गये हैं। कथा-भेद का विस्तार देखकर ही कदाचित् गोस्वामीजी को कहना पड़ा है—

रामकथा कै मिति जग नाहीं।

अथवा

नाना भाँति राम अवतारा।
रामायण शत कोटि अपारा॥

अनेकता का ऐसा विचित्र हाल है कि कहीं सीताजी, रावण और मन्दोदरी की पुत्री मान ली गई हैं और कहीं रामचन्द्रजी की सगी बहिन! चरित्र-चित्रण में और तो और, स्वत: मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र तक कहीं सर्वसमर्थ, कहीं एक सामान्य विलासी और कहीं बल-पराक्रम में सीताजी तक से मात खाजानेवाले लिख दिये गये हैं।

भिन्न-भिन्न रामकथाओं में इतनी विषमताएँ रहते हुए भी जहाँ 'भरत' का प्रश्न आया है वहाँ किसी ने किसी प्रकार की विषमता उपस्थित करने का साहस नहीं किया है। वही एक ऐसा चरित्र है जिसमें किसी ने कहीं कोई त्रुटि नहीं दिखाई। उनके अपूर्व सेवाभाव और त्याग की सब ने एक स्वर से प्रशंसा की है। वाल्मीकिजी ने तो उन्हें धर्म की मर्यादा में स्पष्ट ही रामचन्द्रजी से भी श्रेष्ठ कह दिया है—

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।

गोस्वामीजी के समान अनन्य रामभक्त ने भी उन्हें राम की प्रतिच्छाया (भरतहि जान राम परछाहीं) कह कर लिखा है—

तस मगु भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात।

सन्तप्रवर नाभादासजी के नाम पर प्रसिद्ध एक दोहा है—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक ।
इनके पद-वन्दन किये विनसत विघ्न अनेक ॥

गोस्वामीजी के 'मानस' में भक्ति और भगवन्त का स्थान तो श्री सीताजी ने और श्री रामचन्द्रजी ने लिया ही है। गुरुदेव के स्थान पर गोस्वामीजी ने शंकरजी को बिठाया है और भक्त का प्रतीक माना है भरतजी को। इन चारों चरित्रों की पूर्णता में गोस्वामीजी ने कहीं कोई त्रुटि नहीं आने दी है। चारों ही परम निर्मल, परम उज्ज्वल, परम उत्कृष्ट तथा हर तरह परम पूर्ण चित्रित किये गये हैं। 'चतुर नाम वपु एक'।

गोस्वामीजी के भरतजी ने चातक और मीन दोनों को ही 'जग जस-भाजन' कहा है—'जग जस-भाजन चातक मीना'। परन्तु उन्होंने चातक-रटन को ही, अपने लिए आदर्श माना है—'चातक-रटनि घटे घटि जाई ?' बात यह है कि मीन संयोगी भक्त का प्रतीक है, जिस दर्जे के लक्ष्मण थे। और चातक वियोगी भक्त का प्रतीक है, जिस दर्जे के स्वतः भरतजी थे। प्रस्तुत ग्रन्थ 'भरत-दर्शन' के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि गोस्वामीजी ने न केवल अपने हृदय की बात किन्तु जीव मात्र के हृदय की बात भरत-चरित्र ही में विशेष रूप से प्रतिफलित देखी इसलिए उसे बड़ी सहृदयता के साथ चित्रित किया है।

मानव-जीवन में सुख और शान्ति तभी मिल सकती है जब मनुष्य यह समझ ले कि वह विश्व व्यापार का मालिक नहीं किन्तु एक मुनीम मात्र है। मालिक तो है परमात्मा राम, जो घट-घट में रमण कर रहा है और अणु-परमाणु में ओत-प्रोत है। वह तो केवल न्यास-रक्षा (ट्रस्टी-शिप) का कार्य कर रहा है। भरत ने यही तो किया। राम के प्रति अनन्य आकर्षण रखते हुए भी उन्होंने राम के आदेश को शिरोधार्य करके राम का राज्य सँभाला और काम, क्रोध, लोभ सभी से निर्लिप्त रहकर समय

आने पर उनकी वस्तु सुख से उन्हें सौंप दी। यही नहीं, लोगों के हजार कहने पर, यहाँ तक कि श्रीराम के भी कहने पर, उन्होंने क्षण भर के लिए भी यह विचार अपने मन में न आने दिया कि विश्व के वैभव पर उनका भी कोई हक है। कितनी ऊँची बात है यह।

इस भारत में एक से एक बढ़कर विवेकी हो चुके हैं। इसी प्रकार यहाँ एक से एक बढ़कर प्रेमी भक्त भी हो चुके हैं। विवेक मस्तिष्क की वस्तु है और प्रेम हृदय की। एक ही दिशा में पराकाष्ठा प्राप्त कर लेना एक बात है किन्तु दोनों दिशाओं में पराकाष्ठा प्राप्त करके दोनों का पूर्ण सन्तुलन रख लेना बिलकुल ही अलग बात है। भरत में जहाँ प्रेम की तीव्रता उस हद की थी कि उसके वेग से पत्थर तक पिघल उठते थे,

जबहिं राम कहि लेहिं उसासा।
उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥
सुनत द्रवहिं अति कुलिस पखाना।

वहाँ विवेक और कर्तव्य-परायणता का दर्जा भी इस हद का था कि परम ज्ञानी गुरुवर वशिष्ठ की बुद्धि भी चकरा उठती थी।

भरत महा महिमा जलरासी।
मुनि-मति तीर ठाढ़ि अबला-सी॥

गोस्वामीजी ने भरत के प्रेम को ही देखकर लिखा है 'होत न भूतल भाउ भरत को, अचर सचर चर अचर करत को;' और उनके विवेक को ही देखकर लिखा है—

जो न होत जग जनमु भरत को।
सकल धरम-धुर-धरनि धरत को॥

भरतजी ने धर्मबुद्धि और प्रेमभावना को अपनी अपनी सीमाओं तक पहुँचाकर उन दोनों का इतना सुन्दर समन्वय और सन्तुलन कर दिखाया है कि मनुष्यों के लिए उनका चरित्र आदर्श ध्रुव तारा की तरह विश्व-साहित्य में सदैव देदीप्यमान रहेगा।

'भरत-दर्शन' के लेखक हमारे मित्र श्री मुन्नीलालजी वर्मा ने अच्छा

भक्त-हृदय पाया है। उन्होंने बड़ी सहृदयता के साथ भरत-चरित्र का अनुशीलन किया है और संस्कृत तथा हिन्दी के ग्रन्थों से उन्हें जो उपयुक्त सामग्री मिली है उसका अच्छा उपयोग किया है। उनका यह ग्रन्थ उनके गम्भीर अध्ययन और उनकी गवेषणापूर्ण शैली का परिचायक है। कई स्थलों पर उनका प्रवाह काव्यमय हो गया है। भाषा कहीं-कहीं संशोधन-सापेक्ष भले ही रह गई हो परन्तु भावों की अभिव्यक्ति में वह पूर्ण सफल है।

श्री वर्माजी के निष्कर्ष अधिकांशतः पूर्ण हृदयग्राही हैं, यों सामान्य बातों में मतभेद होना सामान्य बात है। उनके मौलिक सुझावों में एक यह है कि मन्थरा ने जो कुचक्र चलाया वह ऋषि-मण्डली की प्रेरणा से चलाया। ऋषियों का मन्तव्य यह था कि राम किसी भी तरह कुछ काल के लिए वन भेज दिये जायँ ताकि रावण का वध हो जाय। उनकी इस मन्त्रणा में विश्वामित्र और वशिष्ठ सभी शामिल थे। बात बड़ी मौलिक है और श्री वर्माजी ने इसके पोषण मे एक कुशल वकील की तरह, जो वे स्वतः हैं, कुछ प्रमाण भी दिये हैं। परन्तु साधक-बाधक प्रमाणों पर जब हम विचार करते हैं तब हम यह नहीं कह सकते कि उनकी इस सूझ को विद्वन्मण्डली मान ही लेगी। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने विचारकों के लिए चिन्तन की एक नई दिशा का निर्देश कर ही दिया है।

यह सूझ उनका प्रधान विषय नहीं। प्रधान विषय तो है भरत-दर्शन। और भरत के हृदय का दर्शन उन्होंने जिस व्यापकता और सहृदयता से कराया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। हमें विश्वास है कि उनके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का विद्वज्जनों में, रामायण-प्रेमियों में, सन्तों और भक्तों में तथा सर्व साधारण जनों में भी, यथेष्ट आदर होगा।

राजनाँद गाँव
१५—३—५४ } बलदेवप्रसाद मिश्र (एम० ए०, डी० लिट्०)

दो शब्द

जब मैं अपनी अल्पज्ञता और श्री भरतजी के महान् चरित्र की विशालता पर विचार करने लगता हूँ, तब हृदय में एक धड़कन-सी उत्पन्न होती है कि इस विषय पर लेखनी उठाई ही क्यों। इस कथानक का सूत्रपात भी विचित्र अवस्था में हुआ। नवरात्रि में श्री 'मानस' का पारायण कभी-कभी हो जाया करता है। वह चालू था। अयोध्याकाण्ड का पाठ समाप्त होते होते चित्त में विचार उत्पन्न हुआ कि भरतजी का शुभ्र चरित्र—जो बिखरा-सा पाया जाता है—यदि संकलित कर दिया जाय तो अच्छा हो। आवृत्ति समाप्त होने पर मनोगत संकल्प कार्य में परिणत करने को अग्रसर हुआ और 'रामचरितमानस' से प्राप्त सामग्री एकत्र की। उसके आधार पर जो चित्र खींचा वह अस्पष्ट और अपूर्ण ही बना। तत्सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। अन्यान्य सद्ग्रन्थों के अध्ययन, मनन एवं कल्पना के आश्रय से कुछ लिखना प्रारम्भ किया।

श्री राम-वनवास का मूल कारण महारानी कैकेयी की दुष्ट या रुष्ट प्रवृत्ति थी अथवा वह बहकाई जाकर इस महाकाण्ड की केवल साधन बनाई गई थी, इस प्रश्न पर अनेक संकल्प-विकल्प उठे। उस अतीत काल का ही पूरा पता नहीं जब श्री रामजी सशरीर इस पृथ्वी पर प्रकटे या विचरे, तब घटना का विश्वस्त सूत्र खोजा ही कहाँ जावे? जो इतिहास उपलब्ध है उसमें वनवास एक आकस्मिक घटना के रूप में वर्णित है। अतएव उस काल की उन वस्तुस्थितियों का सहारा लेना उचित समझा, जिनका उल्लेख विविध विद्वानों द्वारा प्रकाशित लेखों में किया गया था। निदान उस काल की परिस्थिति का अनुमान लगाते हुए और उस परिस्थिति को उस युग के ज्ञानी एवं तपस्वी लोक-नायकों ने किस प्रकार

सँभाला, इन बातों पर अपने मंतव्य निर्धारित कर चरित्र प्रतिपादन किया गया।

सच तो यह है कि इस पुस्तक में जो कुछ जितना सर्वमान्य तथा सुरुचि-पूर्ण है वह मेरा नहीं; वह उन महान् आदरणीय प्राचीन महर्षियों की वाणी एवं सोलहवीं से बीसवीं शताब्दि के सन्तों, प्रख्यात लेखकों एवं कवियों के कथन पर अवलम्बित है। हाँ, जो बातें इसमें अरुचिकर हैं, विवादग्रस्त हैं, कटु, तिक्त या दोषपूर्ण हैं उनका उत्तरदायित्व मेरा है।

'सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि-विकार।' के न्यायानुसार यदि विद्वान् विवेचक क्षीर ग्रहण कर गँदला और दोषयुक्त पंक मेरे लिए छोड़ देंगे तो उसे अपने हृदय-कमल के विकसन का हेतु मान मैं अपना अहोभाग्य ही लेखूँगा।

एक बात और। पुस्तक दो वर्ष पूर्व ही लिखी जा चुकी थी परन्तु साधन होते हुए भी उसके प्रकाशन में मुझे संकोच होता था। विशेष कारण जो मुझे अप्रकाशन की ओर खींचता था वह यह था कि यद्यपि जीवनकाल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्वाँग धारण कर मैं अपना नाटक खेलता रहा परन्तु साहित्य के क्षेत्र में कृतिमान लेखक के रूप में प्रकट होने का अवसर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। संकोच का परदा दूर करने का सारा श्रेय भाई श्री रामानुजलाल को है, जिन्होंने सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले मुझे हर प्रकार से मुक्त कर दिया।

'तुलसी-दर्शन', 'मानस-मन्थन', 'साकेत-सन्त' तथा अन्य पुस्तकों के ख्यातनामा लेखक, साहित्य और तत्त्वज्ञान के पण्डित तथा प्रस्तुत विषय पर बोलने एवं लिखने के सम्पन्न अधिकारी डाक्टर बलदेवप्रसादजी मिश्र एम० ए०, डी० लिट० ने विवेचनात्मक भूमिका लिखकर तथा हिन्दी-जगत् के गौरव, यशस्वी कविश्रेष्ठ, भक्त-हृदय श्री मैथिलीशरणजी गुप्त 'पद्मविभूषण' ने आशीर्वाद देकर मुझ सरीखे अज्ञात लेखक की जो प्रतिष्ठा बढ़ा दी है, उस आभार को धन्यवाद की शब्दावली द्वारा

चुकाने का प्रयत्न अनुकम्पा के मूल्यांकन को कम करना होगा। हृदय ही उसका साक्षी है। मैं उन मित्रों का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे प्रोत्साहन दिया और लेख आदि के संशोधन में सहायता दी। परन्तु श्री यदुनन्दनप्रसादजी, श्री व्योहार राजेन्द्रसिंहजी, श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा, श्री कामताप्रसादजी तथा श्री जगदीशप्रसादजी व्यास का नामोल्लेख किये विना सन्तोष नहीं होता। पुस्तक की स्वीकृति तथा सुरुचि-पूर्ण छपाई आदि के लिए इंडियन प्रेस, प्रयाग, आभार और धन्यवाद का अधिकारी है ही।

दमोह (म० प्र०)
(दिनांक २०-१०-१९५८)

कुन्नीलाल वर्मा

अनुक्रमणिका

आधार-ग्रन्थ		संकेत चिह्न
१—श्री वाल्मीकिरामायण		(वाल०)
२—श्रीमद्भगवद् गीता		
३—श्री अध्यात्मरामायण		(अध्यात्म)
४—श्री रामचरितमानस (श्री तुलसीदासजी)		(मानस)
५—विनयपत्रिका	"	
६—गीतावली	"	(गीता०)
७—कवितावली	"	
८—साकेत	(श्री मैथिलीशरण गुप्त)	(साकेत)
९—साकेत-सन्त	(डा० बलदेवप्रसाद मिश्र)	(सा० सं)
१०—तुलसी दर्शन	"	
११—रामायणी कथा	(श्री भगवानदास हालना और शर्मा)	
१२—नवरत्न	(मिश्रबन्धु)	
१३—धर्मपथ	(महात्मा गांधी)	
१४—विनोवा के विचार	(श्री वियोगी हरि)	
१५—भरत-भक्ति	(पं० शिवरत्न शुक्ल)	
१६—भक्तियोग	(श्री अश्विनीकुमार दत्त)	
१७—चिन्तामणि	(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)	
१८—'कल्याण' के विविध अंक		
१९—फुटकर लेख		
२०—रघुवंश	(कवि कालिदास कृत)	
२१—Hinduism	(श्री गोविन्ददास, बनारस)	

भरत-दर्शन

प्रथम प्रकरण

प्रकाश-स्तम्भ

वह अतीत काल, जो त्रेतायुग के नाम से विख्यात है, धन्य था जब अयोध्या-नरेश चक्रवर्त्ती महाराज दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने चरित्र-बल से केवल अपने वंश की ही नहीं, प्रत्युत समस्त आर्य जाति की शुभ्र कीर्ति वसुधा-तल पर प्रतिष्ठित की। उन महान् विभूतियों ने अखिल मानव-कुल के उद्धार-निमित्त वे आदर्श प्रस्तुत किये जो संसाररूपी महासागर के नाविकों को सदोदित दीप्यमान नक्षत्रों की भाँति पथ-प्रदर्शन करते एवं थकित, भ्रमित और चिन्तित पथिकों को आश्रय एवं शक्ति प्रदान करते हैं। अवधेश के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र श्री रामचन्द्रजी का यशोरुण आज तक सौर-मंडल में प्रखरतापूर्वक चमक रहा है और आगे भी चमकता रहेगा। उच्च राजकुल में जन्म धारण कर, असीम प्यार एवं दुलार के स्निग्ध तथा मोहक वातावरण में लालन-पालन होते हुए भी जिस धैर्य, वीरता, सत्य, त्याग, कर्मठता और सहिष्णुता आदि सद्गुणों से संयुक्त, अपने निर्मल निष्कलंक एवं निस्स्वार्थ आचरण से श्री रामचन्द्रजी ने जो लोक-मर्यादा स्थापित की, वह आदर्शस्थानीय और अप्रमेय है। यही कारण है कि आर्य

जगत् में वे 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' माने जाते और कोट्यवधि हिन्दू उनका नाम-स्मरण तथा चरित्रगान कर अपने को परमधाम के अधिकारी मानते हैं।

इक्ष्वाकु-वंशी श्री रामचन्द्रजी का सुसम्बद्ध तथा विस्तृत काव्य-इतिहास सबसे प्रथम महर्षि वाल्मीकिजी ने रचा। वह अधिक आदरणीय एवं विश्वस्त माना जाता है और माना जाना भी चाहिए; क्योंकि उसके मूल रचयिता श्री रामचन्द्रजी के समकालीन लेखे जाते हैं। उनकी रचना में पश्चात् के लेखकों ने कहीं-कहीं घटा-बढ़ी अवश्य की है, परन्तु इससे उक्त ग्रंथ में अंकित चरित्रों की महत्ता तथा घटनाओं की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यह महाकाव्य पहले 'पौलस्त्य-वध' के नाम से प्रचलित था और अध्यायों में विभाजित था। उसका नाम 'रामायण' कब पड़ा और अध्यायों के स्थान पर काण्ड और सर्ग कब आ विराजे, यह कहना कठिन है। अतएव श्रीरामचरित्र के प्रथम गायक महर्षि वाल्मीकि ही माने जाते हैं और वे ही 'आदि-कवि' के नाम से प्रख्यात हैं। उनके पश्चात् संस्कृत के अन्य कवियों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार रामचरित्र का गान किया परन्तु 'आदि-कवि' की सीमा तक कोई न पहुँच सका।

संस्कृत वाङ्मय में जो पद महर्षि वाल्मीकिजी को प्राप्त है, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत श्री रामचरित्र-वर्णन में वही स्थान श्री गोस्वामी तुलसीदासजी को लब्ध है। एक नहीं अनेक स्थलों और प्रसंगों में, इन दोनों श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियों में अन्तर पाया जाता है। शैली तो हर एक कवि तथा लेखक की भिन्न और निजी होती ही है। इसका विवेचन न करते हुए भी यह मानना पड़ता है कि श्री वाल्मीकिजी थे प्रथमत: इतिहासकार, फिर कवि और तत्पश्चात् श्री रामजी के यशस्वी कीर्तिकार; तथा श्री तुलसीदास थे प्रथमत: श्री भगवान् राम के भावुक भक्त, तत्पश्चात् कवि और

कहीं अन्त में इतिहास-लेखक। वाल्मीकिजी के नायक सूर्यवंश-विभूषण, अद्वितीय वीर, सत्य-प्रतिज्ञ, एक-पत्नी-व्रती, एक-शब्द-व्रती, एक-बाण-व्रती, नर भूपाल, दशरथ-पुत्र, श्रीराम थे। उनके 'राम' और तुलसीदासजी के 'राम' में अन्तर है। तुलसी-दासजी के 'राम' नर भूपाल ही न थे प्रत्युत वे थे (जैसा उन्होंने विभीषण के मुख से कहलाया है) :—

तात, राम नहिं नर भूपाला।
भुवनेश्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
व्यापक अजित अनादि अनंता॥

सम्भव है कि जब वाल्मीकिजी ने रामायण की रचना की, उस समय तक उन 'नरोत्तम' को 'पुरुषोत्तम' का पद प्राप्त न हुआ हो, अथवा देशकाल और सामाजिक परिस्थिति ने (जिनसे कवि एवं लेखक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता) दोनों महाकवियों को बाध्य किया हो, कि आदि-कवि केवल उन नरपुंगव के मानवी चरित्र का वर्णन करें जो उस काल के समाज को श्रेयस्कर रहा हो और भाषा-कवि तुलसीदासजी उसी चरित्र को नारायणीय रूपक के स्वरूप में प्रतिष्ठित कर अपने युग की अधोमुख समाज को उन्नत करने का प्रयत्न करें। जो भी कारण हों, यह निश्चित है कि वाल्मीकिजी के 'श्रीराम' में ब्रह्मत्व गौण एवं मानवत्व प्रमुख है, और तुलसी-दास के प्रभु में ब्रह्मत्व स्पष्ट तथा मानवत्व गौण है। गोस्वामीजी ने पार्वती-उद्बोधन-प्रसंग में श्री शंकरजी द्वारा स्पष्ट कराया है :—

राम सच्चिदानन्द दिनेशा।
नहिं तहँ मोह-निशा-लवलेशा॥
सहज-प्रकाश-रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विज्ञान-बिहाना॥

पुरुष - प्रसिद्ध - प्रकाश - निधि प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल-मणि मम स्वामि सोइ, कहि शिव नायउ माथ॥

सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू।
मायाधीश ज्ञान-गुण-धामू॥ आदि

अस्तु, वाल्मीकि के 'राम', तुलसी के 'राम' तथा अन्य कवियों और लेखकों के 'राम' में व्यक्तिगत भावना एवं बुद्धि-चातुर्य के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। यह स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है। भक्त-प्रवर तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस की रचना मुख्यतः रामचरित्र-उद्घाटन के लिए की और श्री रामजी के जिस परब्रह्म रूप को उन्होंने अपने हृदय में स्थान दिया, उसका आद्योपान्त निर्वाह किया। यों तो कवि-श्रेणी ने पहले से ही अपनी सूक्तियों का पात्र कौशल-किशोर को बना रखा है :—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव जग-
त्यसावेकश्चक्रे सततमुखसंवासवसतिः।

(इसमें कवियों का क्या दोष? दोष तो उन गुणगणों का है जिन्होंने एक जगह एकत्र होकर श्री रामचन्द्रजी को अपना सुखनिवास बना लिया है।)

कदाचित् इसी भावना से प्रेरित होकर कविवर श्री मैथिलीशरण जी ने कहा है :—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

फिर यदि 'उन पुरुष-प्रसिद्ध-प्रकाश-निधि' के परम पावन चरित्र को भाषा-कवि-गुरु, परमोपासक सन्त तुलसीदासजी-सरीखे गायक मिल जावें तो वह संगीत दिव्य और जगमोहक क्यों न हो? जब साधारण नरचरित्र को सुकवि अपनी प्रतिभा एवं कला से आकर्षक बना लेता है, तब कवि-कुल-चूड़ामणि की पीयूष-वर्षिणी लेखनी द्वारा भगवान् श्री रामजी का चरित्र-चित्रण अद्वितीय तथा अलौकिक उतरे, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? हाँ, कदाचित् यह कहना असंगत न होगा कि 'रामचरित्र-चित्रण' के पश्चात् जिस भावमयी सरस तूलिका से गोस्वामीजी ने 'भरत-चित्रण' किया है, उसका प्रयोग वहीं सफल और समाप्त हो गया। भरत-चित्रांकन में कवि मानव-लोक में ही विचरण करता रहा है और ऐसा प्रतीत होता है, मानों भरत के हृदय में उसने अपना हृदय पा लिया हो। इस विचित्र कलाकार ने भरत-चित्र को ऐसी सजग मनोवैज्ञानिक रेखाओं से आबद्ध किया है, कि उनका विश्लेषण शब्दों द्वारा सरल नहीं। उन रेखाओं के अन्तर्गत तुलसीदासजी ने भावाघातों के ऐसे सुन्दर, आकर्षक और नयनाभिराम रंग भर दिये हैं कि पूर्ण चित्र लौकिक होते हुए भी अलौकिक एवं द्वितीय होते हुए भी अद्वितीय रूप में चमक उठा है।

इस चित्र की ऐसी अनूठी झाँकी होने के कई कारण हो सकते हैं। उनमें मुख्य हैं कवि की सहृदयता एवं तादात्म्यानुभूति। आन्तरिक अनुभूति की निर्मल धारा जब द्रवित सौहार्द के मृदुल कूलों को स्पर्श कर, कवि की कलात्मक वाणी द्वारा उल्लसित होती है, तब वह केवल रसपिपासु पथिकों को ही श्रमहारिणी एवं आनन्द-प्रदायिनी नहीं होती वरन अपने रसोद्रेक के प्रबल वेग से मार्गाव-रोधक दीर्घ चट्टानों की कठोर नोकों को क्षीण और समतल करती हुई समस्त धरा को प्लावित और परितृप्त कर देती है। तुलसी की ऐसी ही अभिव्यक्ति थी। भरतजी से उनकी आभ्यन्तरिक सहानु-

भूति थी। उनके विह्वल हृदय में तुलसीदास ने अपने हृदय की छाया देखी। श्री रामजी के चरणोपासक होने के नाते दोनों में सख्य और साम्य स्थापित हो गया। दोनों दीन थे, दुखी थे, निरालम्ब और निस्सहाय थे। वियोग से दोनों संतप्त थे। दोनों को एकमात्र आश्रय एवं विश्वास अपने प्रभु की भक्त-वत्सलता और दीन-दयालुता का था। दोनों अपने जीवन का सार्थकत्व निष्कपट प्रेम-योग द्वारा प्रमाणित करना चाहते थे। "एक बार मुख ते कहहु, तुलसीदास मेरो", कवि की सबसे बड़ी याचना थी। श्री रामजी ने 'विनय' पर जब सही कर दी, उद्वेग शान्त हो गया। 'मोहिं लगि भे सियराम दुखारी' की प्रज्वलित अग्नि-शिखा भरत के हृदय में धधक रही थी। 'भयउ न भुवन भरत सम भाई' का पीयूषाश्वासन पाकर ही वह शीतल हो सकी।

साम्प्रत कवियों में ख्यातनामा श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने 'साकेत' में जो चरित्र-चित्रण किये हैं, वे सजग और मानवीय ही नहीं प्रत्युत आकर्षक और स्तुत्य भी हैं। सामाजिक एवं राष्ट्रीयता के आधुनिक दृष्टिकोण से उन उज्ज्वल चरित्रों पर जो सौम्य प्रकाश श्री गुप्तजी ने अपनी पुनीत चमकीली लेखनी द्वारा डाला है, उससे उन चित्रों में सौन्दर्य और तेजस्विता की प्रभा झलक उठी है। जिस तरह देवी उर्मिला के 'उत्ताप'प्रसादरूप 'साकेत' की सृष्टि कही जाती है, उसी तरह यदि यह कहा जावे कि 'भरत-प्रीति-गान' के प्रसादरूप भक्त कवि तुलसीदासजी ने पूर्ण 'मानस' की रचना की तो क्या अक्षम्य होगा ?

भक्त और भगवान् का सम्बन्ध अटूट और अनादि है। भगवान् को 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का गुणमय स्वरूप देने का श्रेय भक्त को ही है। तुलसीदास ने लिखा भी तो है :—

राम ते अधिक रामकर दासा।

इसी न्याय से सन्तों ने भक्त-यशोगान को भी वही महत्ता दे रखी है, जो देव-यशोगान को। यह केवल काल्पनिक कौतूहल नहीं, किन्तु प्रमाण-पोषित है। जहाँ 'श्री रामचरित्र' तथा 'श्री रामनाम' की महिमा वर्णन करते हुए, तुलसीदासजी कहते हैं:—

जिन कर नाम लेत जग माहीं।
सकल अमंगल-मूल नसाहीं॥
जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं।
सुख सम्पति नाना विधि पावहिं॥

तहाँ श्री भरत-चरित्र और भरत-गुण-गान की महिमा में भी श्री रामजी द्वारा यह प्रमाणित कराते हैं:—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

एक नहीं, अनेक स्थलों पर गोस्वामीजी ने भरत और श्री रामजी की (भक्त और भगवान् की) समता बतलाई है। यथा:—

(१) श्री रामनाम—

कहहुँ कहाँ लगि नाम बड़ाई।
राम न सकहिं नाम-गुण गाई॥

श्री भरत-महिमा:—

भरत अमित महिमा सुनु रानी।
जानत राम न सकहिं बखानी॥

(२) श्रीराम:—

सकल सुमंगल-मूल जग रघुबर-चरण-सनेहु।

श्री भरत:—

सकल सुमंगल-मूल जग भरत-चरण-अनुराग।

(३) श्रीराम :—

यद्यपि राम सींव समता की।

श्री भरत :—

भरत अवधि सनेह-ममता की।

(४) श्रीराम-कथा :—

हरत सकल कलि-कलुष-गलानी।

श्री भरत-कथा :—

हरत कठिन कलि-कलुष-कलेशू।

(५) श्रीराम-कथा :—

मिटहिं पाप-परिताप हिए तें।

... ...

समन दुरित दुख दारिद दोषा।

... ...

श्री भरत-कथा :—

पाप-पुंज कुंजर मृगराजू।
समन सकल-संताप-समाजू॥

(६) श्रीराम-प्रभाव :—

जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया।
करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया॥
परसि चरन-रज अचर सुखारी।
भये परम पद के अधिकारी॥

श्री भरत-प्रभाव :—

किये जाहिं छाया जलद सुखद बहत वर वात।
तसु मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

जड़ चेतन जग-जीव घनेरे।
जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भये परम-पद जोगू।
भरत दरस मेटा भव-रोगू॥

सन्त-मतानुसार सच्चे भगवद्भक्त की सेवा भगवान् की सेवा समान ही फलप्रदायिनी मानी गई है :—

सीतापति-सेवक-सेवकाई।
कामधेनु पय सरिस सुहाई॥

इस कारण यदि यह माना जावे कि भक्त कवि तुलसीदास ने रामचरित्र वर्णन करने के प्रथम परम राम-भक्त का चरित्र गान किया और उस पृष्ठभूमि पर श्री रामचन्द्रजी का दिव्य चरित्र अंकित किया, तो इसमें न तो कोई असंगति ही है और न आश्चर्य।

द्वितीय प्रकरण

जन्म के पूर्व

वैदिक काल के ऋषियों ने 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः' के सनातन सिद्धान्त पर आर्य संगठन की नींव स्थापित की थी। युगों के परिश्रम तथा अनुभव से उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का वह अजेय चतुर्मुख कोट रचा था, जिसके आश्रय से अगणित कठोराघात सहते हुए भी, हिन्दू जाति आज तक शेष है, जब कि इतने दीर्घ काल में सैकड़ों जातियाँ विनाश के गर्भ में विलीन हो गईं। जब-जब यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था खण्डित हुई, तब-तब हिन्दू समाज में उथल-पुथल मची और पुनः उसकी स्थापना की गई; परन्तु सिद्धान्तरूपी नींव ज्यों की त्यों कायम रही, उसमें फर्क न आया। इसी व्यवस्था पर आर्य-मानव-धर्म स्थित है। सामाजिक व्यवस्था को स्थायी और उन्नत रखने के अभिप्राय से यह धर्मसूत्र गठित किया गया था। संसार की परिवर्तनशीलता अथवा काल-चक्र की गति-विधि से जब-जब इस मानव-धर्म में अवहेलना का विकार बढ़कर ग्लानि की दशा पर पहुँचा, तब-तब किसी अलौकिक विभूति ने अवतीर्ण हो, चल-विचल नींव को पुनः पुष्ट कर, उसी भूमिका पर पुनः सामाजिक नवनिर्माण कर, ध्वस्तप्राय समाज और म्रियमाण संस्कृति को नये जीवन तथा आलोक से प्रदीप्त कर दिया। आर्य-जाति का आज तक का इतिहास इसी क्रम का द्योतक है।

समाज की विचार-धारा को उसकी संस्कृति इंगित करती है। आर्य-संस्कृति के प्रवर्तक, विचारक एवं विधायक वे वनवासी तपोधन

और निर्लिप्त ऋषिगण थे, जो स्वतः घने जंगलों के बीच, वृक्षों के तले अथवा घास-फूस की कुटियों में रहते और फल मूलादि से अपना शरीर-निर्वाह करते थे तथा अपनी कठोर तपस्या, त्याग एवं प्रतिभा से जो ज्ञान संचय करते, उसका निःशुल्क वितरण तृषित मानव-समाज को करते थे। सांसारिक ऐश्वर्य, तृष्णा तथा संचय को वे हेय समझते और धर्मोपार्जन को जीवन की निधि मानते थे। यही कारण था कि आर्यसंगठन में ब्राह्मण वर्ग को एक विशेष उच्च और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। आर्य-राष्ट्र-शरीर में ब्राह्मण की तुलना मस्तक से की गई है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जब तक मस्तक शुद्ध, अविकृत और बुद्धि-ज्ञान का यथार्थ संचालक बना रहता है, एवं शरीर के अन्य अंग मस्तिष्क की आज्ञा का पालन करने में आनाकानी नहीं करते, तब तक सम्पूर्ण शरीर स्वस्थ रहता और अपना कार्य विधिवत् करता रहता है। ज्योंही मस्तिष्क विकृत हुआ या उसकी गति में आक्षेप उत्पन्न हुआ, त्योंही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के स्वस्थ दिखलाई पड़ते हुए भी, उन पर उस दोष की प्रतिक्रिया होने लगती है। यहाँ तक कि मस्तिष्क में रक्त-चाप या अवरोध होने से शरीर में बुद्धिहीनता या क्रियाशून्यता उत्पन्न होती है और मनुष्य उन्माद या पक्षाघात आदि रोगों से आक्रान्त हो जाता है। इसी वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर, जब तक भारतवर्ष का तपोधन अपने स्वधर्म में रत रहकर अन्य शरीरांगों को अहैतुक, शुद्ध और उन्नत सन्देश देता रहा और वे अंग उसके विधि-निषेध का पालन करते रहे, तब तक भारतीय समाज उन्नतिशील रहा तथा उसमें सामंजस्य बना रहा; परन्तु ज्यों ही उस श्रेष्ठ वर्ग ने किंचित् मात्रा में ही भयावह परधर्म अंगीकृत किया कि समाज-संतुलन नष्ट होकर क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा।

श्रीराम-जन्म के बहुत पहले आर्य-संस्कृति उत्तरीय भारत में फल-फूल चुकी थी। उसका सतयुग व्यतीत हो चुका था। विगत

काल के ब्राह्मण-क्षत्रिय-विरोध ने आर्य शरीर के दो मुख्य अंग याने मस्तक और भुजाओं की शक्ति क्षीण कर दी थी। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार वह क्षत्रिय जो समाज का रक्षक माना जाता था, अपने ऐश्वर्य के मद में भोग-विलास की लिप्सा पूर्ण करने के निमित्त, वनवासी ब्राह्मण की तप-फल-स्वरूपा कामधेनु को बल-प्रयोग द्वारा अपहरण करने में अपनी वीरता का परिचय देने लगा था; और जितेन्द्रिय तपस्वी भी अपने तप और सत्ता के अभिमान में ऐसा क्रोधी तथा अविचारी बनता जा रहा था कि बात-बात में क्षत्रिय को नीचा दिखाने और उस पर कटु आतंक जमाने के बहाने, उसका अस्तित्व तक लोप कर देने को उद्यत-सा हो गया था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और क्षत्रिय वीर विश्वामित्र के वैमनस्य ने कौशिकवंशी राजसत्ता को ध्वस्त कर शक, पल्हव, यवन, हूण आदि कई वैदेशिक अनार्य जातियों का उद्भव करा दिया था। भृगुवंशी महामुनि परशुरामजी ने अगणित राजकुलों को नष्ट-भ्रष्ट कर 'क्षत्रिय-कुल-द्रोही' की उपाधि धारण कर रखी थी। उस काल में ब्राह्मणवर्ग अपना बाह्य रूप ही नहीं किन्तु अपनी प्रकृति भी परिवर्तित करने लगा था। मिथिला में धनुष-भंग होने के उपरान्त परशुरामजी ने अपने ब्राह्मण-वर्गी गर्व का उल्लेख जिस रूप में किया है, वह दर्शनीय है :—

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही।
मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही॥

चाप स्रुवा सर आहुति जानू।
क्रोध मोर अति घोर कृशानू॥

समिध सेन चतुरंग सुहाई।
महामहीप भये पशु आई॥

मैं यह परशु काटि बलि दीन्हें।
समर यज्ञ जग कोटिक कीन्हें॥

मानना पड़ता है कि उस युग में ऋषिवर्ग अपनी ब्राह्मणोचित साधना परित्याग कर क्षत्रियोचित वीरता पर लक्ष्य जमाने लगा था और क्षत्रिय-कुल-भूषण अपने शौर्य को तिरस्कृत कर ब्रह्मबल की श्रेष्ठता पर मुग्ध हो, तपस्वी बनने की चेष्टा में लीन होने लगा था। क्षत्रिय विश्वामित्र की कल्पना :—

धिग्बलं क्षत्रियबलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्।

उक्त निष्कर्ष की पुष्टि करती है।

अनार्यों के प्रलोभन अथवा बहकावे में आकर कोई-कोई ऋषि अपने रक्षकगणों के विरुद्ध युद्ध करने को भी उद्यत हो जाते थे। कवि भवभूति ने 'महावीरचरित' में लिखा है कि धनुष भंग होने पर राक्षसराज रावण ने ही परशुराम के क्रोध को प्रज्वलित कर उन्हें श्री रामजी के विरुद्ध भेजा था, कि परशुराम और श्री रामचन्द्र का आपस में युद्ध हो जावे और उसके शत्रु का नाश हो जावे। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण और क्षत्रिय का पारस्परिक सहयोग असम्भव-सा था। इस विषमता को दूर करने तथा वर्णाश्रम-सामंजस्य पुनः स्थापित करने के लिए किसी ऐसे नरतनुधारी आदर्श की आवश्यकता थी, जो बुद्धिबल का भुजबल से पुनः संयोग करा, उन दोनों का नैसर्गिक स्वत्व फिर से स्थापित कर दे। आवश्यकता थी उस विभूति की जो केवल उपदेश से नहीं वरन् अपने शुद्ध आचरण तथा व्यवहार से विषमता में समता स्थापित कर, हर एक वर्ग को कर्म-पथ पर आरूढ़ कर, सामाजिक मर्यादा का ऐसा उच्च आदर्श उपस्थित करे जो युग-युगान्तर तक कायम रहे।

श्रीराम-जन्म के पूर्व यह दयनीय दशा आर्यावर्त के उस खण्ड में थी, जहाँ आर्यपद्धति के अनुसार राज्य-व्यवस्था चालू थी और जहाँ अयोध्या-सम्राट् का आधिपत्य था। नर्मदा नदी के दक्षिण में तो अराजकता और भयंकरता का निवास था। वह प्रान्त

कण्टकाकीर्ण वनस्थली से आवृत था और मूल दक्षिण में वह राक्षसी संस्कृति फैली हुई थी, जिसका प्रतीक ब्राह्मणवंशी रावण नामधारी राक्षसराज था। इस अतुलित पराक्रमी एवं दुर्धर्ष राक्षस तथा उसके वंशजों और अनुयायियों से क्या गृहस्थ, क्या वानप्रस्थ सभी पीड़ित थे। इस प्रान्त में कोई ऐसा वीर महीपाल न था जो प्रजा की रक्षा कर सके। महामुनि परशुरामजी ने माहिष्मती के प्रसिद्ध और बलशाली राजा सहस्रार्जुन तथा उसके पुत्रों का वध कर, रावण की उच्छृंखलता के लिए उत्तर का द्वार खोल दिया था। सुदूर दक्षिण में किष्किन्धा राज्य था, जिस पर अर्धसभ्य वानर जाति का वीर राजा बालि अपनी सत्ता जमाये हुए था और अपनी शक्ति का परिचय रावण को दे चुका था। रावण ने बालि से मैत्री स्थापित कर, संकट पड़ने पर, परस्पर सहायता का अभिवचन ले लिया था। किष्किन्धा के नीचे प्रदेश को ध्वस्त कर राक्षसराज ने अपने जनपद वहाँ स्थापित कर लिये थे। इस प्रकार दक्षिण से उत्तर तक रावण ने अवैध गति प्राप्त कर ली थी। उसके आतंक से सम्पूर्ण आर्य जनता क्षुब्ध और चिन्तित हो गई थी। उस काल के तपस्वी गिरि-कन्दराओं तथा अगम्य स्थानों में लुक-छिप कर ही धर्म-संग्रह कर सकते थे। स्त्री-वर्ग सुरक्षित न था। जब तक महाराज दशरथ युवावस्था में थे, तब तक वे राक्षसों के बढ़ते हुए अनाचार तथा अत्याचार से अपनी प्रजा की रक्षा करते रहे; किन्तु ज्यों-ज्यों वे वृद्ध होते चले त्यों-त्यों उनके साम्राज्य में भी राक्षसों का उपद्रव बढ़ता गया। जब विश्वामित्रजी इन चक्रवर्त्ती नरपाल के दरबार में याचना करने पधारे, तो अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उन श्रेष्ठ सूर्यवंशी महाराज ने मुनिराज से स्पष्ट कह दिया :—

'मैं राम को कदापि नहीं दे सकता। आप कहें तो मैं एक अक्षौहिणी सेना लेकर चलूँ और उन राक्षसों को मारूँ। परन्तु कुबेर के भाई, विश्रवा के पुत्र, रावण से मैं भी युद्ध नहीं कर

सकता। वृद्धावस्था के कारण मेरी देह जर्जर हो गई है। मैं रावण से काँपता हूँ। केवल मैं ही क्यों, इन्द्रादिक देवता भी उससे भय खाते हैं। फिर किसकी सामर्थ्य है जो उससे युद्ध करे?

(वाल. व यो. वा.)

ऐसी विकट परिस्थिति में आर्यावर्त के लोक-नायकों को यह चिन्ता अहर्निश सताती रहती थी कि आर्य संस्कृति की रक्षा एवं अनार्य सत्ता के ध्वंस का क्या आयोजन किया जावे। इसी साधना की पूर्ति के उद्देश से कई ऋषिवर्य्य उत्तर से दक्षिण प्रान्त में बस गये थे। ये ऋषिगण उस काल के मिशनरी (missionaries) थे जो शत्रु-प्रदेश में घुसकर वहाँ अपने गुप्त ठिकाने बना चुके थे। इनके सबसे प्रमुख और अग्रगण्य नेता थे, महर्षि अगस्त्यजी। इन्होंने सबसे पहले उत्तुंग शिखर गिरिराज विन्ध्याचल को लाँघकर, दक्षिणापथ में सबसे आगे अपना केन्द्र स्थापित किया था। दक्षिण में आर्य संस्कृति के स्थापन का विशेष श्रेय इन्हीं महात्मा को है। दक्षिण ही क्यों, सुदूर पूर्व जावा, सुमात्रा आदि द्वीप-समुदाय तक में इन्हीं महाराज ने आर्य-ध्वजारोपण किया। कदाचित् इसी वीरता के कारण वे समुद्रशोषी कहलाये। अपने दक्षिणाश्रम में इन्होंने कई अमोघ शस्त्रों को संचित कर रखा था और 'निशिचर-हीन करौं मही' का प्रण लेकर जब श्री रामजी इनके आश्रम में पधारे, तब अगस्त्यजी ने उन अचूक शस्त्रों को श्री रामजी को अर्पित किया और उनका प्रयोग बतलाया। इतना ही नहीं, श्रीवाल्मीकिजी के कथनानुसार लंका-युद्ध में स्वयं उपस्थित होकर इन महात्मा ने रावण-वध कराया।

वह एक ऐसा ही काल था, जब एक विराट् राक्षसी सभ्यता आर्य-जगत् की दैवी सम्पत्ति को ग्रास करने को मुँह बाये हुए थी। उसका अधिनायक अतुलपराक्रमी दशानन था और आर्य संस्कृति के व्यवस्थापक दीन, हीन, अनाथ-जैसे थे। तपोनिष्ठ दोनों ओर थे।

एक ओर थे वे जो सांसारिक सुख, अर्थ, भौतिकता और पाशविकता के पूजक थे। दूसरी ओर थे वे जो संसार-हित में आत्म-कल्याण समझते और आध्यात्मिक उत्कर्ष को जीवन का ध्येय मानते थे। दैवी और आसुरी शक्तियों में सर्वकाल और सर्व देशों में संघर्ष चला ही करता है। एक की अति दूसरी की क्षति का कारण हुआ करती है। मानव-समाज आदि-काल से इसी द्वन्द्व में उलझा हुआ चला आ रहा है और इस संघर्ष से आज तक उसने मुक्ति नहीं पाई। इस कारण भी देश और समाज को आवश्यकता थी एक ऐसे आदर्श की, जो अतिक्रमण में मर्यादा स्थापित कर शान्ति और सुख का साम्राज्य फैलावे।

आर्य-गण अपने राजा को ईश्वरांशी मानते थे। यहाँ महाराज दशरथ के कोई पुत्र न था, जो राज्य का उत्तराधिकारी बनकर प्रजा की रक्षा का भार ग्रहण करे। इन सब चिन्ताओं से व्यथित होकर जनता में त्राहि-त्राहि मच गई और गृहस्थ, वानप्रस्थ, देव तथा मनुष्य व्याकुल होकर, अपने उद्धार की प्रार्थना जगन्नियन्ता से करने लगे। निदान ऋषि-मुनियों के परामर्श से एक विराट् यज्ञ आयोजित किया गया जिसमें राजा, प्रजा और ऋषि वर्ग ने अपने अपने वैयक्तिक स्वार्थों का हवन कर अस्तोन्मुख आर्य संस्कृति की रक्षा तथा विकास के निमित्त एकत्रित अनुष्ठान किया। फलस्वरूप अग्निकुण्ड से यज्ञ पुरुष ने प्रकट होकर दिव्य हवि महाराज दशरथ को प्रदान की। यथासमय महाराज के पूर्व सुकृत तथा आर्यों की संगठित प्रेरणा से दशरथ-पुत्र-रूप में उन महान् विभूतियों का आविर्भाव हुआ, जो श्री रामचन्द्र-जी तथा उनके सहकारी (एक ही काया के व्यूह) भरतजी, लक्ष्मण-जी और शत्रुघ्नजी के नाम से प्रख्यात हैं और सदा प्रख्यात रहेंगे।

तृतीय प्रकरण

भ्रातृ-चतुष्टय में भरत का स्थान

श्री वाल्मीकिजी का कथन है कि जो हवि महाराज दशरथ को प्राप्त हुई थी उसका आधा भाग उन्होंने अपनी ज्येष्ठा रानी देवी कौशल्या को दे दिया, और शेष के दो भाग कर एक भाग मँझली रानी सुमित्रा को दिया, बाकी बचे चौथाई भाग के फिर दो हिस्से किये और उसमें से एक सबसे छोटी रानी कैकेयी को दिया तथा अवशिष्ट अष्टांश फिर सुमित्रा को दे दिया।

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः॥
कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात्।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम्॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महीपतिः।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक्॥
(वाल०)

अध्यात्म-रामायणकार का लेख है कि दशरथजी जिस समय हवि विभाजन कर रहे थे उस समय केवल कौशल्या और कैकेयी उपस्थित थीं। इसलिए दशरथजी ने हवि के दो भाग किये और वे एक-एक भाग दोनों रानियों को देना चाहते थे। इतने में पुत्रेच्छा से प्रेरित होकर रानी सुमित्रा भी वहाँ आ पहुँचीं। तब कौशल्याजी और कैकेयीजी ने प्रीतिपूर्ण हृदय से अपनी खीर का आधा-आधा भाग उनको दे दिया:—

कौसल्यायै स कैकेय्यै अर्धमर्धं प्रयत्नतः।
ततः सुमित्रा संप्राप्ता जगृधुः पौत्रिकं चरुम् ।।
कौसल्या तु स्वभागार्द्धं ददौ तस्यै मुदान्विता।
कैकेयी च स्वभागार्द्धं ददौ प्रीतिसमन्विता ।।
(अध्यात्म)

सन्त कवि तुलसीदासजी का इस हवि-विभाजन पर उपर्युक्त दोनों लेखकों से मतभेद है :—

अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा।
उभय भाग आधे कर कीन्हा ।।
कैकेई कहँ नृप सो दयऊ।
रह्यो सो उभय भाग पुनि भयऊ ।।
कौसल्या कैकयी हाथ धरि।
दीन्ह सुमित्रहिं मन प्रसन्न करि ।। (मानस)

यदि हविपिण्ड सोलह अंश मान लिया जावे तो श्री वाल्मीकि जी के मतानुसार लक्ष्मणजी चार कलांशी और भरत तथा शत्रुघ्न दो-दो कलांशी थे। अध्यात्मकार के मत से चारों बराबर और गोस्वामीजी के मतानुसार भरतजी चार कलांशी तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी दो-दो कलांशी थे। पूर्ण काया-व्यूह सोलह कलांशी था।

उल्लिखित विवरण से प्रकट हो जाता है कि किस कीर्तिकार ने किस विभूति को किस श्रेणी में रखा है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है कि इन महान् पुरुषों के लेखों में यह मतभेद क्यों है। विचार करने पर मालूम होता है कि वह अकारण नहीं, सकारण है। रामकाल (त्रेतायुग) भक्ति-भावना का युग न था। श्री राम-जन्म तो एक विशाल ध्वंसयुग का द्योतक था और उस संघर्ष में लक्ष्मणजी का खास पार्ट था। वाल्मीकिजी ने एक कथा लिखी है कि रावण-हनन के पश्चात् जब श्री रामजी अयोध्या के

सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब एक दिन अन्य ऋषि-मुनियों को संग लेकर महर्षि अगस्त्यजी श्री रामजी के दरबार में गये और युद्ध की चर्चा करते हुए रावणादि निशाचरों के निधन पर आनन्द प्रकाशित करते हुए बोले :—

'श्री रामजी ! युद्ध में रावण आपके द्वारा मारा गया, इसे हम कोई बड़ी बात नहीं समझते। परन्तु द्वन्द्व युद्ध में श्री लक्ष्मण द्वारा जो रावण-पुत्र इन्द्रजित का वध हुआ है, वही सबसे बढ़कर प्रसन्नता की बात है; क्योंकि मेघनाद काल के समान आक्रमण करनेवाला और बड़ा मायावी था। उसका वध किसी भी प्राणी द्वारा सम्भव न था। अतः मेघनाद का निधन अधिक आश्चर्यजनक है।'

शुद्धान्तःकरणवाले उन ऋषियों की बातें सुनकर श्री रामजी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने विनीत भाव से उसका कारण पूछा। तब अगस्त्यजी ने इन्द्रजित की तपस्या, बल, पराक्रम और अजेयता का उल्लेख किया। उसे सुनकर सब सभासद आश्चर्य-चकित हो गये। महर्षि ने यह भी कहा कि रावण का वध तो मनुष्य द्वारा सम्भव भी था परन्तु इन्द्रजित मेघनाद को मारने की क्षमता सिवाय इन्द्रियजित लक्ष्मण के अन्य पुरुष में न थी। ऋषि लोग इस गुप्त भेद को जानते थे। संभवतः इसी कारण उन्होंने श्री लक्ष्मण को अपने अग्रज श्री रामजी के साथ वन में जाने दिया, यद्यपि उस समय अयोध्या कुछ काल के लिए सूनी पड़ गई।

अतः युग-कर्म-धर्मानुसार, पौरुष और वीरता के नाते, महर्षि वाल्मीकि का श्री लक्ष्मण को श्री रामजी का अर्धांश और पूर्ण काया-व्यूह का चतुर्थांश मानना पूर्णरूपेण उचित था। उस काल में और गोस्वामीकाल अर्थात् सोलहवीं शताब्दि में विपुल अन्तर है। गोस्वामीजी ने जब रामचरित-मानस की रचना की, उस समय भारतवर्ष में मुगल-साम्राज्य की चकाचौंध और मुहम्मदी मत के एकेश्वरवाद की तुमुल घोषणा श्रीविहीन दलित हिन्दू जाति तथा

उसके अनन्त देवी-देवताओं की मान्यता को विकल एवं भ्रान्त कर रही थी। एक ओर सामाजिक समता तथा धर्म-परिवर्तन पर राज्याधिकार की मुहर लगी हुई थी और दूसरी ओर अनेक जातियाँ और उपजातियाँ हिन्दुत्व की टूटी कड़ियों को बिखेर रही थीं। ऐसी परिस्थिति में आर्य-संस्कृति और संगठन को पुनः नियमित तथा बलशाली बनाने की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास ने भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित की। भक्त के नाते उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ कि अपने युग में लक्ष्मण-वीरता की अपेक्षा भरत-भक्ति को उच्च स्थान दें। सम्भव है, इसी कारण उन्होंने भरतजी को वह पद प्रदान किया जिस पर महर्षि वाल्मीकि ने, अपने युग में, लक्ष्मणजी को आसीन किया था।

आध्यात्मिक दृष्टि से जीव-जीव सब सम ईश्वरांशी हैं। उनमें भेद नहीं किया जा सकता। इस कारण अध्यात्म-रामायणकार ने चारों विभूतियों को सम माना है।

श्री रामचन्द्रजी तथा उनके भाइयों और शक्तियों की महिमा एवं आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण तुलसीदासजी ने इस प्रकार किया है :—

सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥

(२)

मुदित अवध-पति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल-मणि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥

(३)

सोहत साथ सुभग सुत चारी।
जनु अपवर्ग सकल तनुधारी॥

उपर्युक्त लेखों और चित्रों के आधार पर इन विभूतियों का कोष्ठक इस प्रकार बनता है :—

	श्री राम	श्री भरत	श्री लक्ष्मण	श्री शत्रुघ्न
कलश—(वाल्मीकि)	॥)	≡)	।)	≡)
,, —(अध्यात्म)	।)	।)	।)	।)
,, —(मानस)	॥)	।)	≡)	≡)
जीव (चार)	नित्य	मुक्त	मुमुक्षु	बद्ध
अवस्था— ,,	तुरीय	सुषुप्ति	स्वप्न	जाग्रत
विभु — ,,	ब्रह्म	प्राज्ञ	तैजस	विश्व
क्रिया — ,,	ज्ञान	भक्ति	योग	यज्ञ
फल — ,,	मोक्ष	धर्म	कर्म	अर्थ
अपवर्ग— ,,	सायुज्य	सारूप्य	सामीप्य	सालोक्य

अत: स्पष्ट है कि शत्रुघ्नजी आदर्श अर्थवीर, लक्ष्मणजी आदर्श कर्मवीर, भरतजी आदर्श धर्मवीर तथा श्री रामचन्द्रजी इस व्यूह के केन्द्रबिन्दु अनन्त सौन्दर्य, शक्ति एवं शील के निकेत थे। भरतजी यथार्थत: धर्मधुरीण, श्रद्धान्वित स्थितप्रज्ञ थे और मानव-धर्म की सिद्धि अर्थात् पूर्ण त्याग की साधना के निमित्त अवतरित हुए थे। इस दृष्टिकोण से जब हम भरतजी के चरित्र को आँकते हैं, तब तुलसीदासजी के वाक्य सहज सिद्ध हो जाते हैं :—

जो न होत जग जनम भरत को।
सकल धरमधुरि धरणि धरत को॥

... ...

होत न भूतल भाव भरत को।
अचर सचर चर अचर करत को॥

जिस अदृश्य, अखंड तथा अचूक नियम से संसार संचालित होता है तथा जो उसे उत्सर्ग प्रदान करता है, वही धर्म कहलाता है।

विश्व का प्रत्येक अणु अपने गुण-धर्मानुसार बर्तता और क्रिया-शील होता है। ज्यों ही किसी पदार्थ के नैसर्गिक गुण-धर्म में अन्तर उत्पन्न होता है अथवा उसमें परिवर्तन होता है त्योंही वह पदार्थ अपना पूर्व नाम और रूप त्याग देता है। यह परिवर्तन ही संसृति है। आकर्षण या प्रेम से ही जगत् स्थित है। त्याग इस प्रेम-गुण का सहज धर्म है। प्रेम की पराकाष्ठा प्राप्ति में नहीं, वरन् त्याग में है। प्रेम और त्याग का ही उपनाम मानवता है। वही सत्य मानव-धर्म है। इसी से संसार का पालन-पोषण होता है। इसी से समाज समृद्ध होता है। इसी के अभाव से आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह उत्पन्न होकर विप्लवग्रस्त संसार श्मशान का रूप धारण करता है।

विकलित धरा पर अपने शुद्ध आचरण से सत्य मानव-धर्म को स्थापित करने के निमित्त तथा 'विश्व भरण-पोषण कर जोई' के अर्थ को प्रतिपादित करने के हेतु, जिस उज्ज्वल विभूति का आवि-र्भाव दशरथ-भवन में कैकेयी-कुक्षि से हुआ उसका नामकरण गुरुदेव वशिष्ठ ने किया—

"भ र त"

चतुर्थ प्रकरण

सौन्दर्य-शील-शक्ति

महाराज दशरथ की तीन प्रमुख रानियाँ थीं। सबमें ज्येष्ठा ज्ञान की खानि देवी कौशल्या श्री रामजी की माता थीं। शील-गुण-आगर मँझली रानी सुमित्रा, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नजी की और सबमें छोटी शक्ति-रूप-उजागर महारानी कैकेयी भरतजी की माता थीं। जब दशरथजी ने रानी कैकेयी का वरण किया था तब वे निस्संतान थे और उनकी अवस्था भी ढल चुकी थी। विवाह के पूर्व वे कैकेय-नरेश से वचनबद्ध हो चुके थे कि रानी कैकेयी से उत्पन्न पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होगा। उस समय कोई नहीं जानता था कि इस प्रख्यापन का आगे क्या परिणाम हो सकता है। इक्ष्वाकु-कुल की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी माना जाता था और उस काल में प्रचलित एवं सर्वमान्य इस परम्परा को मनमाने ढङ्ग से बदल देना सहज सम्भव न था। जब महाराज दशरथ को तीन रानियों से चार पुत्र उत्पन्न हुए, तब रानी सुमित्रा ने (जो दो पुत्रों की माता थीं) अपने एक पुत्र कुमार लक्ष्मण को, ज्येष्ठ श्री रामजी और दूसरे पुत्र कुमार शत्रुघ्न को मँझले भ्राता श्री भरतजी की सेवा में समर्पित कर अपना और अपने दोनों पुत्रों का जीवन निश्चिन्त तथा निश्चित कर लिया था। साधारण लौकिक दृष्टि से तथा विशेषकर राजकुलों के अन्तःपुर-कलह एवं सौतिया-डाह को सम्मुख रखकर, जब सुमित्राजी की इस दूरदर्शिता पर विचार किया जाता है तब मानना पड़ता है, कि वे यथार्थ में महान्

चतुर और राजनीति-कुशल थीं। न तो वे ज्येष्ठ राजमहिषी थीं और न रानी कैकेयी के समान महाराज दशरथ पर उनका प्रभुत्व ही था। उनके पुत्र, श्रीराम और भरत दोनों से छोटे थे। जो अभिवचन दशरथजी कैकेय-नरेश को दे चुके थे, उसका भान उन्हें होगा ही। अतएव चाहे कुल-परम्परा के अनुसार श्री रामजी अयोध्या-राज्य के भावी नरेश हों या महाराज के दिये हुए वचनानुसार भरत सिंहासनारूढ़ हों, अपना एक-एक पुत्र दोनों का सहकारी और सहचारी बना देने से लक्ष्मण या शत्रुघ्न में से किसी एक का युवराजत्व (नायब पद) निश्चित ही था और इस प्रकार उनका भावी जीवन भी निरापद था। आगे चलकर इस विभाजन का यह परिणाम हुआ कि यद्यपि चारों भाइयों का लालन-पालन तथा अन्य संस्कार एक ही साथ हुए परन्तु बाल्यावस्था से ही लक्ष्मण का श्री राम में और शत्रुघ्न का श्री भरत में स्वामि-सेवक या सहकारी-उपकारी भाव स्थापित हो गया—

बारेहिं तें निज हित पति जानी।
लक्ष्मण राम चरण रति मानी।।
भरत शत्रुहन दोनों भाई।
प्रभु सेवक जस प्रीति दृढ़ाई।।

(मानस)

रूप

बाह्य सौन्दर्य में श्री रामजी और भरत एक ही अनुहार थे। दोनों का रूप, रंग प्रायः एक-सा ही था। तुलसीदासजी ने तो भरत को श्री रामजी का प्रतिबिम्ब ही माना है और देवसभा में देवगुरु बृहस्पति द्वारा यह स्पष्ट कहलाया है :—

भरतहिं जान राम परछाहीं।

किञ्चित् परिचित व्यक्ति श्री राम और भरतजी को पहचानने में भूल कर जाते थे। जनकपुर में जब चारों भाइयों का सम्मिलन हुआ तब वहाँ के स्त्री-पुरुषों का यही हाल हुआ —

सखि जस राम लखन कर जोटा।
तैसइ भूप संग दुइ ढोटा॥
स्याम गौर सब अंग सुहाये।
ते सब कहहिं देखि जे आये॥
भरत राम ही की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर-नारी॥

(मानस)

इसी तरह जब भरत और शत्रुघ्न, वनवासी श्री राम-लक्ष्मण को अयोध्या वापिस लाने के अर्थ चित्रकूट की ओर गये तब पथ-निवासी भ्रम में पड़ गये —

कहहिं सप्रेम एक इक पाहीं।
राम लखन सखि होहिं कि नाहीं॥
बय-बपु - बरन-रूप सोइ आली।
सील-सनेह - सरिस, सम चाली॥

(मानस)

शील

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों श्री राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न की परस्पर प्रीति बढ़ती गई और फिर वह इस अवस्था को पहुँची कि एक के बिना दूसरा अपने को अपूर्ण समझने लगा। इसका यह अर्थ न था कि चारों भाई परस्पर एक-दूसरे का यथोचित आदर और आपस में प्रेम नहीं करते थे। लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न तो सहोदर ही थे; परन्तु लक्ष्मण भरतजी को भी बड़े

आदर और उत्साह की दृष्टि से देखते थे, उसी प्रकार जिस प्रकार शत्रुघ्न सबसे ज्येष्ठ श्री रामचन्द्रजी को। श्री रामजी की सेवा में शेष तीनों भाई उपस्थित रहने में अहोभाग्य मानते थे। किन्तु यह भी मानना पड़ता है कि बाल्यावस्था से स्थापित हुए दो सम सुन्दर युग्मों का आगे चलकर यह प्रभाव अवश्य पड़ा कि लक्ष्मण ने अपना अस्तित्व श्रीराम में तथा शत्रुघ्न ने अपना श्री भरत में लीन कर दिया और उस विशिष्ट कुल में श्री रामजी एवं भरतजी ही की दो स्वतंत्र जोड़ियाँ स्थित रहीं। कारण स्पष्ट ही है। भरतजी को उनकी माता कैकेयी ने श्री रामजी के चरणों में उस प्रकार समर्पित नहीं किया था जैसा सुमित्रा ने लक्ष्मण को। श्री रामजी के प्रथम अनुज होने के नाते, आर्य-धर्म तथा कुल-मर्यादा के अनुसार भरत का पद, लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों से, ऊँचा था तथा श्री राम से निम्न। अपने अग्रज में भरत का वैसा ही निष्कपट प्रेम और आदर था जैसा होना चाहिए। श्री रामजी भी भरत को अपना प्रिय अनुज मानते और उन पर पूर्ण विश्वास रखते थे। निदान भरतजी की निश्छल प्रीति श्री रामजी में उत्तरोत्तर बढ़ती गई और समय आने पर भरत ने अपने आपको स्वतः अपने ज्येष्ठ बन्धु के चरणों में समर्पित कर दिया। फलतः उन्हें श्री रामजी का वह सौहार्द प्राप्त हो गया जो लक्ष्मण को भी अलभ्य रहा।

श्री कौशल्यानन्दन के भाव कैकेयीनन्दन की ओर कैसे उच्च एवं उदार थे, इसका अनुमान उसी समय प्राप्त हो जाता है जब महाराज दशरथ ने श्री रामजी का अभिषेक निश्चित कर ऋषि-मण्डल तथा प्रजानुमति से उसका आयोजन किया। नगर में उत्सव की तैयारियाँ प्रारम्भ हुईं और अन्तःपुर में श्री रामजी के मंगल-अंग फड़कने लगे। पुलकित होकर उन्होंने सीताजी से कहा :—

भये बहुत दिन अति अवसेरी।
सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥

भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।
इहइ सगुन फल दूसर नाहीं॥ (मानस)

कुछ समय के पश्चात् जब गुरुदेव वशिष्ठ उनके पास अभिषेक की सूचना लेकर एवं उसकी सफलता के हेतु संयमपूर्वक रहने की शिक्षा देने गये तब श्री रामचन्द्रजी के निर्मल हृदय में भावना जाग्रत हुई :—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा।
संग-संग सब भयउ उछाहा॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ (मानस)

वन-प्रस्थान करते समय जब प्रजाजन श्री रामजी के मार्ग के अवरोधक बन गये तब उन्होंने यही सम्बोधन दिया :—

"हे अयोध्यावासियो! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है और जैसा आदर तुम मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिए इससे भी अधिक प्रीति और आदर तुम सब भरत के प्रति प्रदर्शित करना। भरत अवस्था में छोटे होने पर भी ज्ञानवृद्ध हैं, बड़े कोमल चित्तवाले हैं, साथ ही साथ बड़े पराक्रमी भी हैं। इसके अतिरिक्त उनमें वात्सल्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं। वे सब प्रकार से योग्य हैं। उनके राजा हो जाने पर तुम्हें किसी बात का भय नहीं रहेगा।" (वाल्मीकि)

यही क्यों, वनयात्रा की प्रथम रात्रि में ही तमसा के तीर पर विश्राम करते हुए, वीर लक्ष्मण के समक्ष, श्री रामजी ने भरत-हृदय की साक्षी दे दी :—

'हे महाबाहु लक्ष्मण ! मैं यह जानता हूँ कि भरत धर्मात्मा हैं। वे अवश्य ही धर्म, अर्थ और कामयुक्त वचनों से पिता, माता को धीरज बँधावेंगे। भरत के दयालु स्वभाव को जब मैं भली भाँति विचारता हूँ तब मैं पिता-माता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ।' (वाल०)

हृदय की विशुद्धता से मानव-स्वभाव ऊर्जित होता है। भरत-हृदय किसी कठोर धातु, शुष्क पाषाण या क्षार जल का बना हुआ न था। वह तो निर्मित हुआ था क्षीरसागर के शुद्ध पय से। गोस्वामी जी का कथन है :—

प्रेम अमिय मंदर विरह भरत पयोधि गँभीर।

इस कारण उस हृदय में गंभीरता, मृदुता, शीतलता और पोषकता होना स्वाभाविक था। उसके मन्थन से नवनीतामृत प्रकट होना अनिवार्य था। मनोविज्ञान के आचार्यों का मत है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय और स्वभाव का आभास बाल्यावस्था से ही मिलने लगता है। चारों भाइयों की बालकेलि का संक्षिप्त वर्णन तुलसी-दासजी की 'गीतावली' में मिलता है :—

'राम लखन इक ओर भरत रिपुदमन लाल इक ओर भये।
सरजु तीर सम सुखद भूमि-थल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये॥
एक लै बाढ़त, एक फिरत, सब प्रेम प्रमोद विनोद मये।
एक कहत भई हार रामजू की, एक कहत भैया भरत जये॥
हारे हरष होत हिय भरतहि, जितें सकुच सिर नयन नये।
तुलसी सुमिर स्वभाव, सील, सुकृती तेई जे इहि रंग रये॥

अग्रज से खेल में हार जाने पर भरतजी को हर्ष होता और जीत जाने पर संकोच से नयन ऊँचे न उठते। उनका यह विनयात्मक भाव देखकर श्री रामचन्द्रजी बारम्बार उनको जिता देते और स्वयं हार

मान लेते। श्री रामजी के इस प्रेम-व्यवहार का वर्णन स्वयं भरत ने इन शब्दों में किया है :—

मो पर कृपा सनेह बिसेखी।
खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥

... ...

मैं प्रभु कृपारीति जिय जोही।
हारेहु खेल जितावहिं मोही॥ (मानस)

श्री रामजी के इस मृदुल भ्रातृ-चिन्तन तथा प्रेम-वात्सल्य ने भरत के व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्रदान किया और उसे उस अद्भुत त्याग शक्ति से ओत-प्रोत कर दिया जिसके बल पर, अवसर आने पर, एक विशाल राज्य का खेल दोनों भाई चौदह वर्ष तक खेलते रहे और अन्त में अग्रज अनुज से हारे।

सरलता, संकोच, विनय, दया, त्याग आदि गुणों से संयुक्त, धर्मप्रवणता की मूर्ति भरत, अयोध्या-गगन में बढ़ते हुए इन्दु के समान अपना सौम्य प्रकाश प्रसारण करने लगे। श्री रामजी उन्हें 'परम विज्ञ' मानते तथा 'प्रिय दर्शन' कहा करते थे। आगे चलकर भरतजी के इन गुणों का विकास जिस रूप में हुआ उससे स्पष्ट होता है कि किसी भी भयंकर परिस्थिति में मानसिक सन्तुलन स्थिर रखते हुए, प्रत्येक पक्ष को तुरन्त समझ कर अपना विचार निश्चित कर लेना तथा बड़े-बड़े विद्वानों को अपनी कुशाग्र बुद्धि से चकित कर देना, भरतजी को सहज सिद्ध हो गया था उन्होंने अन्याय को कभी प्रश्रय नहीं दिया। केवल एक ही अवसर ऐसा मिलता है जब उन्होंने अपनी माता के ऊपर ग्लानियुक्त क्रोध प्रदर्शित किया है। वह उचित, क्षम्य और आवश्यक था, इस बात का वर्णन तो आगे किया जावेगा; परन्तु इस विकट परिस्थिति में भी वे विष-घूँट पीकर रह गये। उनके सम्मुख शत्रुघ्नजी ने दासी

मन्थरा को ताड़ना दी किन्तु दयामूर्ति भरत ने तुरन्त ही उसे मुक्त करा दिया।

शक्ति

आदिकवि ने श्री रामजी द्वारा भरत को 'महेष्वासे', 'महाप्राज्ञे' (बड़ा धनुष धारण करनेवाले तथा महाज्ञानी) आदि विशेषणों से विभूषित कराया है। भरतजी की शीलयुक्त शक्ति का प्रदर्शन महाकवि केशवदास ने, राम-विवाह के पश्चात् मिथिला से अयोध्या लौटते हुए मार्ग में महामुनि परशुराम के मिलने पर, प्रकट कराया है। जब तपस्वी मुनिराज बारम्बार अपनी पुरानी कीर्ति का गुणगान करते हुए रघुवंशियों को धमकाने लगे, तब विनम्रतापूर्वक भरतजी ने उत्तर दिया :—

हैहय मारे, नृपति सँहारे, सो जस लै किन जुग-जुग जीजे। (रा० चं०)

तुलसीदासजी ने भरतजी की शक्ति और बाहुबल का परिचय उस प्रसंग में कराया है, जब महावीर पवनकुमार द्रोणगिरि को लिये अयोध्या के ऊपर से लंका को जा रहे थे। अयोध्या की रक्षा में सतर्क भरतजी ने सुनसान रात्रि के आकाश में ज्यों ही दीर्घकाय छाया देखी, त्यों ही :—

बिनु फर सायक मारेउ चाप श्रवण लगि तान।

कि महावीर धराशायी हो गये। जब हनुमान ने भरत से कहा कि यदि सूर्योदय के पहले वे लंका न पहुँच सके तो लक्ष्मण के प्राण बचना कठिन हो जावेगा, तब बलवीर भरत ने सत्वर उत्तर दिया :—

तात गहरु होइहि तुहि जाता।
काज नसाइहि होत प्रभाता॥

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवहुँ तोहि जहँ कृपानिकेता॥

पवन-तनय को यह गर्वोक्ति-सी प्रतीत हुई। निदान भरतजी ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी कर दिया। इस प्रसंग से भरतजी की जागरूकता एवं दूरदर्शिता का भी पता लग जाता है।

भरतजी की शक्ति और शौर्य का प्रमाण 'गंधर्व-दमन' में पूर्ण-रूपेण प्राप्त होता है, जिसका विस्तृत उल्लेख महर्षि वाल्मीकिजी ने किया है।

श्री राम-लक्ष्मण से विलग होने का प्रथम अवसर भरतजी को उस समय आया, जब मुनि विश्वामित्र उन दोनों भाइयों को अपने यज्ञ-रक्षार्थ ले गये। कुछ दिनों के पश्चात् मिथिला से 'राम-विवाह' की सूचना आई। उस समय भरतजी अन्यत्र खेल में मग्न थे। ज्यों ही उन्हें पता चला कि भ्रातृवर के समाचार आये हैं, द्रुतगति से पिताजी के पास पहुँचे और श्रीराम-लक्ष्मणजी की कुशलता जानने को आतुर हुए :—

पूँछत अति सनेह सकुचाई।
तात कहाँ ते पाती आई॥
कुसल प्राणप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह साने वचन बाँची बहुरि नरेस॥
सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता।
अधिक सनेह समात न गाता॥
प्रीति पुनीत भरत की देखी।
सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी॥ (मानस)

हर्ष-विह्वल भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्न समेत भीतर रनिवास

में दौड़े गये और जिस प्रेमोद्रेक से वह सुसमाचार उन्होंने अपनी माताओं को सुनाया, वह तुलसीदासजी के शब्दों में शोभित होता है :—

सानुज भवन भरत उठि धाये।
पितु समीप सब समाचार सुनि मुदित मातु पहँ आये॥
सजल नयन तन पुलक अधर फरकत लखि प्रीति सुहाई।
कौसल्या लिय लाय हृदय बलि कहो कछु है सुधि पाई॥
सतानन्द उपरोहित अपने तिरहुत नाथ पठाये।
खेम कुसल रघुवीर लखन की ललित पत्रिका ल्याये॥
दलि ताड़िका मारि निसचर मख राखि विप्रतिय तारी।
दै विद्या, लै गये जनकपुर हैं गुरु संग सुखारी॥
करि पिनाक प्रन पिता स्वयंबर सजि नृप कटक बटोर्‌यो।
राजसभा रघुबर मृनाल ज्यों संभुसरासन तोर्‌यो॥
यों कहि सिथिल सनेह बंधु दोउ अम्ब अंक भर लीन्हें।
बार-बार मुख चूमि चारु मनि बसन निछावर कीन्हें। (गीता०)

ये हैं बाल-हृदय भरत के प्रथम दर्शन।

———

पंचम प्रकरण

घटनाचक्र का उत्तरदायित्व

महामना भरत के व्यक्तित्व का भव्योत्कर्ष उस समय प्रारम्भ हुआ जब अयोध्या अपने सुयोग्य सम्राट् को सर्वदा के लिए खो चुकी थी तथा उसके प्रजाप्रिय युवराज, युवराज्ञी और युवराजानुज चौदह वर्ष के लिए वनवासी हो गये थे। दैव-प्रेरणा से हो अथवा पुत्र-मांगल्य के कारण, राजनैतिक षड्यंत्र का प्रतिफल हो अथवा ऋषि-मंडल के गुप्त उपक्रम का परिणाम यह आपत्तियोग अयोध्या राज्य पर एक महारानी द्वारा एकाएक उपस्थित हो गया था। उस निशा की अभिसंधि में उस महारानी ने यह कभी न सोचा होगा कि मंथरा-मंत्रणा का ऐसा विषम और घातक प्रभाव कुल, समाज और देश पर पड़ेगा, जिसके परिताप-रूप उसे आजीवन क्षोभ एवं कलंक का दुःसह भार उठाना पड़ेगा तथा अपने एक ही कृत्य से वह भविष्य के कवियों और लेखकों को ऐसी सामग्री भेंट कर जावेगी जिसके आधार पर उसके नाना भाँति के चित्र रँगे जावेंगे। परन्तु विषय विचारणीय है कि यदि महारानी कैकेयी महाराज दशरथ से दो वरदान न माँगती और दशरथजी अपने प्राणों की बलि देकर उसकी माँग पूर्ण न करते तो क्या संसार को उसी देवी के निष्कलंक पुत्र का आदर्श पढ़ने या सुनने का अवसर मिलता? क्या भरत-चरित्र के सुन्दर विकास और उस कोमल कलिका के मृदुल सुगन्ध-युक्त प्रस्फुटन के लिए, परोक्ष अथवा अपरोक्ष कारण रूप उनकी माता कैकेयी नहीं? भरत ही क्यों, यदि रानी कैकेयी को श्री रामजी के लोकमंगलकारी रूप की भी प्रेरणा माना जाय,

तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। यदि वनगमन का मुहूर्त न आ पाता और श्री रामजी अयोध्या के सम्राट् बन जाते, तो लोकमर्यादा की ऐसी पुनीत रेखा कौन अंकित करता ? श्री रामजी ने अपनी विमाता कैकेयी का यह उपकार स्वयं माना है :—

'मूलशक्ति, माँ, तुम्हीं सुयश के इस उपवन की।' (साकेत)

महाकवि कालिदास ने भी इसी भावना को मान्य किया है :—

'माता ! सत्य पर स्थिर रहने का फल स्वर्ग की प्राप्ति है। ऐसे कल्याणकारी सत्य से जो पिताजी नहीं डिगे, यह तुम्हारे ही पुण्य का प्रताप है। तुम्हारी ही कृपा से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई है।' (रघुवंश)

इस स्थान पर साकेत की उन मुख्य मुख्य विभूतियों का, जिनसे भरतजी का विशेष सम्बन्ध है, यत्किञ्चित् दर्शन कदापि असम्बद्ध न होगा। भरतजी का स्मरण करते या नाम लेते ही पहिला चित्र जो बरबस हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, वह है उनकी माता का।

(अ) महारानी कैकेयी

महारानी सरलहृदया, उग्र प्रकृति युवती थीं। लोक-व्यवहार का यथेष्ट ज्ञान उन्हें न था। वे वीरांगना थीं। उन्होंने शासन करना ही जाना था, अनुशासन नहीं। जिस देश और कुल में उनका जन्म हुआ था उसके रूप-लावण्य और सुलक्षणों के साथ ही साथ वे स्वभाव में विलक्षण और वाक्पटुता में विचक्षण थीं। पहले उनके हृदय में किसी भी पुत्र से द्वेष, द्विविधा या विधारणा न थी। मन्थरा के प्रथम शर-लक्ष पर उन्होंने बड़े सात्विक वचन कहे :—

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रूषते हि माम्॥

राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्तथा ।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः ॥ (वा०)

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई ।
यह दिनकर-कुल-रीति सदाई ॥
राम-तिलक जो साँचेहु काली ।
माँगु देउँ मनभावत आली ॥
कौसल्या सम सब महतारी ।
रामहिं सहज स्वभाव पियारी ॥
मोपर करहिं सनेह बिसेखी ।
मैं कर प्रीति - परीक्षा देखी ॥
जो विधि जनम देय करि छोहू ।
होहिं राम सिय पूत पतोहू ॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे ।
तिनके तिलक क्षोभ कस तोरे ? (मानस)

फिर भी मन्थरा की विष-पिचकारी उन पर काम कर गई। उनका सरल हृदय उस सन्देहोत्पादक विष के तीक्ष्ण प्रभाव को सहन न कर पाया और वह वीर क्षत्राणी (जिसने कभी दूसरे का शासन नहीं सहा था) कल्पित सौतियाडाह, मानमर्दन एवं पुत्र-क्षय के भय से एकदम तिलमिला उठी। वह मानने लगी कि वह और उसका पुत्र एक गुप्त षड्यंत्र का शिकार बनाये जा रहे हैं। मन्थरा के अंतिम वाग्बाण ने, कि :—

कद्रू विनतहिं दीन दुख तुमहिं कौसिला देव ।
भरत बन्दिगृह सेइहैं राम लखन कर नेव ॥ (मानस)

रानी कैकेयी के मर्मस्थल को भेद दिया। फिर तो उस नारि-हृदय ने 'कहा न अबला कर सके' की सार्थकता सिद्ध कर वह काण्ड उपस्थित कर दिया, जिसके आधार पर सब रामायणों की रचना

हुईं। कविवर मैथिलीशरणजी ने रानी की उस मनोदशा का यथार्थ चित्र खींचा है :—

भरत-से सुत पर भी सन्देह ?
बुलाया तक न उसे जो गेह !
पवन भी मानों उसी प्रकार—
शून्य में करने लगा पुकार।

'भरत-से सुत पर भी सन्देह !
बुलाया तक न उसे जो गेह !'
गूँजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान।

कहा तब उसने, हे भगवान !
आज क्या सुनते हैं ये कान ?
मनो-मन्दिर की मेरी शान्ति,
बनी जाती है क्यों उत्क्रान्ति ?

लगा दी किसने आकर आग ?
कहाँ था तू संशय का नाग ?
नाथ ! कैकेयी के वर वित्त !
चीर कर देखो उसका चित्त !
स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेश,
बसे हो एक तुम्हीं प्राणेश !
'भरत-से सुत पर भी सन्देह !
बुलाया तक न उसे जो गेह !'

तुम्हारा अनुज भरत, हे राम !
नहीं है क्या नितान्त निष्काम ?
भरत ! रे भरत ! शील-समुदाय—
गर्भ में मेरे आकर हाय !

हुआ यदि तू भी संशय-पात्र,
दग्ध हो तो मेरा यह गात्र।
बहन कौशल्ये! कह दो सत्य,
भरत था मेरा कभी अपत्य?

पुत्र था कभी तुम्हारा राम?
हाय रे! फिर भी यह परिणाम?
किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय।

करूँगी मैं इसका प्रतिकार,
पलट जावे चाहे संसार। (साकेत)

गीता में कहा भी तो है :—

सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

बुद्धि जहाँ भ्रष्ट हुई वहाँ अन्तिम परिणाम नष्टकारी होना ही चाहिए। कटु विष जब सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त हो जाता है तब कोई उपचार फलदायी नहीं होता। निदान वृद्ध महाराज की अनेक शपथों, प्रमाणों, प्रार्थनाओं यहाँ तक कि अति दीनतापूर्वक पैर पड़ने का भी उस विचलित विक्षुब्ध चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह नारि-हृदय, जो कुछ समय पहले फूल की पखुरी से भी कोमल था, वज्र से भी कठोर बन गया। जो सजीव था, निर्जीव हो गया। उस निष्ठुरता का प्रमाण वह दृश्य है जो भरतजी के ननिहाल से आने पर रानी कैकेयी ने प्रदर्शित किया। पति का शव घर में पड़ा हुआ था। दो पुत्र और पुत्रवधू वल्कल धारण कर वन को चले गये थे। अयोध्या श्मशान का रूप धारण किये हुए थी।

परन्तु माता कैकेयी अपने पुत्र के स्वागतार्थ मङ्गल आरती उतारने को उन्मादित हो रही थी :—

कैकेयी हर्षित इहि भाँती।
मनहु मुदित दव लाइ किराती।

नारी में मातृत्व की जो अनन्त त्यागमयी सजीव प्रतिमा निवास करती है, उसका ऐसा निष्ठुर प्रदर्शन तथा वैधव्य-वेदना के सद्यःप्रहार के बीच माता का यह अनुराग-युक्त पुत्र-स्वागत, ऐसी अनोखी घटनाएँ हैं जो किसी भी साहित्य में कदाचित् ही देखने को मिलें! सम्भवतः इन्हीं कारणों से भावुक कवि ने रानी कैकेयी को किराती-कालिमा से रंजित किया हो।

फिर भी प्रश्न शेष रह जाता है कि महारानी कैकेयी को इस महाकाण्ड की सर्वे-सर्वा अपराधिनी मान लेना कहाँ तक न्याय-संगत है। यदि रघुकुल की उस 'सत्योपासना' पर, जो 'प्राण जाहिं पर वचन न जाई' में निहित है, ध्यान दिया जावे तो मानना पड़ता है कि या तो दशरथजी—उस अभिवचन को जो विवाह के पूर्व केकय-नरेश को दिया गया था—भूल गये थे या जान-बूझकर उसे पूर्ण नहीं करना चाहते थे। महारानी कैकेयी ने उस विस्मृत वचन को पूर्ण कराके दशरथजी को उनकी अन्तिम अवस्था में 'सत्य भ्रष्ट' होने से बचा लिया। राम-वनवास की सारी जिम्मेदारी बहुधा कैकेयी के सिर पर डाली गई है अथवा डाली जाती है, क्योंकि उसने 'भरत राजा हों' यही नहीं वरन् 'रामचन्द्रजी चौदह वर्ष वन-वास करें' यह भी वर माँगा। यह तो निर्विवाद ही है कि इन दोनों वरदानों की माँग रानी कैकेयी के सरल हृदय की विषाक्त उपज न थी। ये बातें तो उसके मानस-कुंज में मन्थरा द्वारा प्रविष्ट कराई गई थीं। यह भी प्रश्न उठता है कि ये दुर्भावनाएँ मन्थरा की निजी सूझें थीं अथवा उसको किसी अन्य दिशा से सुझाई गईं थीं?

'साकेत-सन्त' के विद्वान्, यशस्वी लेखक पण्डित बलदेव-प्रसादजी मिश्र डी० लिट० का मत है :—

'भरत और कैकेयी को अपने स्वत्वों की कोई चाह न थी। अतएव युधाजित् ने भरत को अपने साथ ले जाकर उन्हें 'जरा ठीक करने' की ठानी। और इस बीच राम के युवराजत्व की घोषणा न हो जाय इसलिए वे मंथरा नामक चतुर दासी को अवध में छोड़ गये ताकि वह कैकेयी के हितों की रक्षा में जागरूक रहे।

यह अनुमान यदि सही माना जावे तब भी कैकेयी निर्दोष प्रमाणित होती है। क्योंकि इस प्रपंच के मुख्य सूत्रधार उसके भाई युधाजित् थे, जिनके इंगित पर कैकेयी कठपुतली की भाँति नचाई गई और उसे नचानेवाली डोर मन्थरा के हाथ में रही। इससे यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि यह काण्ड अन्तःपुर-कलह या कैकेयी तथा मन्थरा की असूया पर आधारित न था। वह या तो युधाजित् का षड्यंत्र था या उसका आयोजन किसी अन्य गुप्त उद्देश्य से किसी अन्य क्षेत्र में किया गया था। निश्चयात्मक ठोस प्रमाण के अभाव में अनुमान का ही आश्रय लिया जाता है। हाँ, अनुमान केवल काल्पनिक नहीं होना चाहिए। यदि अनुमान की सहायक या समर्थक उस काल की कुछ परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं तो अनुमान सबल हो जाता है। जिन बातों का उल्लेख दूसरे अध्याय में किया गया है, यदि वे स्वीकृत की जाती हैं तो यह जँचता है कि राम-वनवास के मूल में था वह महत् उद्योग जिसका संगठन उस काल के ऋषिगण आर्य-संस्कृति की रक्षा और अनार्यों के ध्वंस के लिए कर रहे थे। उसे पूर्ण करने के अभिप्राय से ऋषियों ने मन्थरा को साधक बना महारानी कैकेयी को वे दो वरदान सुझवाये, जिनमें मुख्य था निशाचरों के वध-हेतु राम-निर्वासन और तत्पश्चात् राज्य की रक्षा के हेतु भरत का राज्याभिषेक। उस निशा की अभिसन्धि में वह भोली नारी अपनी स्वाभाविक वृत्ति

स्थिर न रख सकी। अपनी उस दुर्बलता, का उल्लेख श्रीराम जी के सम्मुख, चित्रकूट में, रानी कैकेयी ने बड़ी आर्द्र किन्तु ओजस्विनी भाषा में किया है :—

> क्या कर सकती थी, मरी मंथरा दासी।
> मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी। (साकेत)

अस्तु, कैकेयी के वरदान उसे अभिशाप बनकर भले ही उतरे हों और उनका प्रायश्चित्त राजा-रानी तथा राजपुत्रों को भोगना पड़ा हो, परन्तु इस बात से असहमति नहीं हो सकती कि भारतीय संस्कृति के अर्थ तो वे अमर वरदान ही प्रमाणित हुए, क्योंकि उनके कारण ही मानव-चरित्र का एक चरम आदर्श उत्पन्न हो सका :—

> कैकेयी के जिस कटु वर ने
> महत चरित यह किया प्रदान।
> शाप रहा हो कुछ को, पर वह
> जग के हेतु हुआ वरदान॥ (सा० सं)

(ब) महाराज दशरथ

पिता का अपने पुत्रों पर समान ममत्व होना स्वभाव-सिद्ध साधारण नियम है। महाराज दशरथ भी अपने चारों पुत्रों को अपनी चार भुजा मानते थे। जिस समय विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मण को यज्ञ-रक्षार्थ माँगने आये और उन्हें देने से दशरथजी ने इनकार कर दिया, तब यह सोचकर कि ऋषिराज कहीं भरत-शत्रुघ्न को न माँग बैठें, उन्होंने :—

> चौथे पन पायउँ सुत चारी।
> ... ...
> सब सुत प्रिय मोहिं प्रान की नाईं।

आदि वचन कहकर संकेत रूप से भरत-शत्रुघ्न को भी देने से नाहीं कर दी। तथापि यह मानना पड़ता है कि श्रीरामचन्द्रजी अपने पिता को विशेष प्रिय थे।

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः (वा०)
(उन पुत्रों में राम ही राजा के विशेष प्रीतिभाजन थे)

इस भावना को दशरथजी ने कभी छिपाया भी नहीं। जब रानी कैकेयी ने उनके जलते हुए दिल पर व्यंग-रूपी नमक छिड़का, कि

'भरत कि राउर पूत न होंहीं' ? (मानस)

तब कठोर वेदना सहन करते हुए उन्होंने कह ही दिया :—

कहौं स्वभाव न छल मन माँहीं।
जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥ (मानस)

अनन्त सौन्दर्य, शील एवं शक्ति के धाम होने के कारण श्रीरामजी सब भाइयों से अधिक लोकप्रिय थे। यदि महाराज दशरथ ने उन्हें इस प्रकार माना तो आश्चर्य ही क्या ? परन्तु पुत्र के नाते भरत के ऊपर उनकी वैसी ही प्रेम-भावना थी जैसी श्रीरामजी पर। यदि कैकेयी की दृष्टि में, महाराज दशरथ के भरत-प्रेम का मूल्य केवल युवराजत्व होता तो निस्सन्देह वे उसे चुकाने में कभी आनाकानी नहीं करते। उनके वचन ही इसके साक्षी हैं :—

मोरे भरत राम दुइ आँखी।
सत्य कहौं करि शंकर-साखी॥
सुदिन साधि सब साजि सजाई।
देहौं भरतहिं राज बजाई॥ (मानस)

उनके सामने गृहकलह को मेटने के लिए श्रीरामजी के स्थान पर भरत को युवराज घोषित कर देने का ही प्रश्न न था।

असल संकट तो था चौदह वर्ष के लिए निरपराध राम को वन में भेजने का। भरत-राम की परस्पर प्रीति, सौहार्द एवं भरत की धर्म-प्रवणता पर महाराज दशरथ को पूर्ण विश्वास था। उन्होंने रानी कैकेयी से कहा भी :—

'तू इस अनुचित विचार को त्याग दे, क्योंकि श्रीराम के बिना भरत किसी तरह राज्य लेना स्वीकार न करेंगे। मेरी समझ में धर्म-पालन की दृष्टि से भरत, रामजी से भी बढ़े चढ़े हैं' (वा०)

चहत न भरत भूप-पद भोरे।
विधि वश कुमति बसी उर तोरे॥

लोभ न रामहिं राज कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट विचार कर करत रहेउँ नृप-नीति॥ (मानस)

यह नीति-पाठ वृद्ध महाराज रानी कैकेयी को उस समय पढ़ा रहे थे जब कि उसका विश्वास-सूत्र खण्डित हो चुका था और वह अपने कठोर प्रण पर अटल हो चुकी थी। यथार्थतः महाराज दशरथ ने राजनीति को तिलाञ्जलि तो उसी समय दे दी थी, जब भरत की अनुपस्थिति में तथा महारानी कैकेयी से बिना पूछे, उन्होंने राम-राज्याभिषेक की घोषणा कर दी। यदि वे कैकेयी का मुँह छू लेते और उससे हामी भरा लेते तो यह काण्ड ही उपस्थित न होता। दशरथजी के चित्त में द्विविधा अवश्य थी और श्रीवाल्मीकिजी ने इसका संकेत भी किया है कि वे चाहते थे कि भरत के मातुल-गृह से लौटने के पूर्व ही राम-अभिषेक हो जावे। संभवतः इसी कारण उन्होंने कैकेयी से इसकी मंत्रणा करना उचित न समझा हो और केवल भरत-हृदय के विश्वास पर, गुरुदेव की अनुमति तथा प्रजापक्ष की स्वीकृति का बल पाकर, निश्चिन्त हो श्रीराम-युवराजत्व की घोषणा कर दी। परन्तु इस भूल या व्यपगति का

प्रायश्चित्त उन्हें जीवन-दान से करना पड़ा। कैकेयी के समक्ष उन्होंने अपना अपराध भी स्वीकृत किया :—

मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे।
ताते परेउ मनोरथ छूछे॥ (मानस)

परन्तु तब बात बहुत आगे बढ़ गई थी।

(स) देवी कौशल्या

पति-परायणा नीति-धर्म-विभूषिता देवी कौशल्या मातृत्व की अमित श्रद्धा और नारीत्व की अमर-शोभा हैं। वे श्रीराम-माता और ज्येष्ठा राजमाता होते हुए भी, कैकेयी से परितप्त होने पर भी, उनको अपनी लघु भगिनी मानतीं और भरत को अपने पुत्रवत् प्यार करती थीं। जैसी पवित्र भावना प्रारम्भ में महारानी कैकेयी की श्रीराम पर थी, कौशल्या के वैसे ही पुनीत प्रेम और वात्सल्य के अधिकारी भरत थे। उन भावनाओं के प्रमाण वे हृदयोद्गार हैं जो उन्होंने भरत के परोक्ष में व्यक्त किये हैं। भरतजी को ननिहाल से वापिस आने पर जब माता कैकेयी द्वारा सब हाल मालूम हुआ तब अति अधीर हो वे माता के महल में जोर जोर से रोने लगे। उनका कातर कण्ठस्वर पहिचान कर कौशल्याजी सुमित्राजी से बोलीं :—

'जान पड़ता है, निष्ठुर कर्म करनेवाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है। मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है।' (वा०)

वे श्रीराम-वनवास के पश्चात् भी पुत्र-विछोह की व्यथा व्यक्त करते हुए कहने लगीं :—

सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्रा जू सों,
मैं न लखी सौत सखी भगिनी ज्यों सेई है।
कहैं मोहि मैया! कहौं मैं न-मैया भरत की
लैहों बलैयां, मैया, तेरी मैया कैकेयी है॥

तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी
काय मन वानी न जानी कै मतेई है।
वाम विधि मेरो सुख सिरस सुमन सम
ताको छल छुरी कोह कुलिस लै टेई है॥ (गीता०)

देवी कौशल्या अपने और कैकेयी के बीच में कोई भेद न मानती थीं। महाराज की विशेष प्रीतिभाजन होने से, कैकेयी की इच्छा और आज्ञा को, कौशल्याजी गुरुत्व देती थीं। फिर भी मन्थरा के क्रूर कुचक्र से वे वंचित न रह सकीं। उसने तो कैकेयी के ऊपर अपना कपट-जाल कौशल्या के नाम पर ही फैलाया और कैकेयी को यहाँ तक भड़काया कि 'राम युवराजत्व' की मुख्य सूत्रधार कौशल्या ही हैं। मंथरा के विष-तीर बड़े पैने थे :—

तुमहिं न सोच सुहाग-बल निज बस जानहु राव।
मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल स्वभाव॥

चतुर गँभीर राम-महतारी।
बीच पाय निज काज सँवारी॥
पठये भूप भरत ननिऔरे।
राम-मातु मत जानब रौरे॥
रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई।
राम-तिलक-हित लगन धराई। (मानस)

इन शब्दों से कैकेयी उत्तेजित हो उठी और अपना विवेक खो बैठी। वह दशरथजी को फटकारती हुई बोली :—

राम साधु, तुम साधु सुजाना।
राम-मातु तुम भलि पहिचाना॥
जस कौसला मोर भल ताका।
तस फल देऊँ उहौं करि साका॥

कैकेयी के इस दुष्ट भ्रम को निवारण करने के निमित्त महाराज दशरथ ने शपथ भी ली :—

राम शपथ सत कहौं सुभाऊ।
राम-मातु मोहि कहा न काऊ॥

परन्तु कैकेयी पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा और वह अपने मन्तव्य पर अटल रही।

जब श्रीरामचन्द्रजी अपनी विमाता के आज्ञानुसार वन-गमन का निश्चय कर अपनी जननी की आज्ञा लेने कौशल्याजी के महल में गये, तब माता अपने पुत्र के अभिषेकोत्सव के आनन्द में विभोर हो, उस मंगल लग्न की बाट देख रही थी और उसकी सफलता के लिए देवार्चन कर रही थी। ऐसे शुभ, हर्ष-प्रदायक अवसर पर ज्योंही श्रीरामजी ने उनसे कहा :—

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।

तो मानो कौशल्या के मस्तक पर नीलाभ्र से वज्रपात हुआ। वे स्तब्ध और संज्ञाशून्य हो गईं। महर्षि वाल्मीकि का कथन है कि सचेत होने पर, अपने भविष्य को अन्धकारमय जान उन्होंने अपने सम्बन्ध में श्रीरामजी से बहुत कुछ कहा। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उन सब बातों का उल्लेख न कर देवी कौशल्या के उज्ज्वल चरित्र को और भी पावन कर दिया है। हृदय में मंथनचक्र घूमते रहते भी, 'रखि सक राम न कहि सक जाऊ' के भँवर में

डूबती उवरती, उनकी सात्विकी बुद्धि ने उनका साथ न छोड़ा और :—

बहुरि समझ तिय धर्म सयानी।
राम भरत दोउ सुत सम जानी

वे बोलीं :—

तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका।
पितु आयसुहिं धर्म कर टीका॥

... ...

जो केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जाय बलि माता॥

जो पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन शत अवध समाना॥ (मानस)

और यह जानते-मानते हुए भी कि :—

तुम बिन भरतहिं भूपतहिं प्रजहिं प्रचंड कलेश।

राज्य-कलह एवं बन्धु-विरोध बचाने तथा कैकेयी की आज्ञा का मान रखने के अर्थ श्रीराम-माता ने अपने प्राण-धन को इन शब्दों में विदा कर दिया :—

जावो तब बेटा वन ही।
पावो नित्य धर्म धन ही॥

पूज्य पिता प्रण रक्षित हो।
मा का लक्ष्य सुलक्षित हो॥

घर में घर की शान्ति रहे।
कुल में कुल की कान्ति रहे॥ (साकेत)

(ड) ब्रह्मर्षि वशिष्ठ

रघुकुल का दिगन्तव्यापी यश और अभ्युदय उस वंश के गुरु ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की सौम्य चिन्तना तथा निस्पृह सदाशयता का सुखद परिणाम था। प्रबल वेग से बढ़ती हुई अनार्य सत्ता को निःशेष करने के लिए उस काल के ऋषिमंडल में जो प्रबल प्रयत्न हो रहा था उसमें ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का विशेष हाथ था। ऋषिगण चाहते थे कि उस महत् कार्य के सम्पादन के लिए कोई ऐसा क्षत्रिय-कुल-वीर प्राप्त हो जावे, जिसे सब प्रकार सुसम्पन्न कर वे इस कार्य का अग्रणी बनावें। महामुनि परशुराम ने क्षत्रियों को ब्राह्मणों का विरोधी बना दिया था, इस कारण इस कार्य में क्षत्रिय वर्ग का सहयोग सुलभ न था। तपोवृद्ध वशिष्ठ की कृपा से रघुवंश इस ब्रह्म-कोपाग्नि से सुरक्षित रहा आया। इस कारण ऋषिमंडली की आशा इसी वंश पर केन्द्रित थी। दशरथ-वंश का सहयोग प्राप्त हो जाने से अनार्य सत्ता ही खण्डित न होगी वरन अस्त-व्यस्त आर्य संगठन भी बलशाली होकर आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान में समर्थ हो जावेगा और जाति-विद्रोह बहुत काल के लिए लुप्त हो जावेगा, ऐसा उनका मत था। उत्तराखण्ड के ऋषियों में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ही प्रमुख थे तथा एक चक्रवर्ती क्षत्रिय सम्राट् के कुलगुरु होने के नाते उन पर उत्तरदायित्व भी विशेष था। ऋषिमंडली की आँखें उनकी ओर लगी थीं। वे त्रिकालज्ञ थे, अतएव यह जानते थे कि ऋषि आयोजन की सफलता का भार दाशरथी श्रीराम ही उठा सकेंगे और आर्यों को भयमुक्त करने का नेतृत्व वे ही ग्रहण कर सकेंगे। यही कारण था कि श्रीरामजी तथा उनके भाइयों की शिक्षा का भार गुरु वशिष्ठ ने अपने ही हाथ में लिया। तथापि उस शिक्षा में जो कमी रह गई थी उसका भान भी गुरुदेव को था। इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए श्रीराम और लक्ष्मण के आगे का

शिक्षण-कार्य एवं क्रम उन्होंने उस समय के तपस्वी और पहले के वीर क्षत्रिय ऋषि विश्वामित्रजी को सौंपा। विश्वामित्रजी की शस्त्र-विद्या और युद्ध-कला प्रख्यात थी। स्वयं वशिष्ठजी उनके पराक्रम और कौशल से अभिज्ञ थे। तपस्वी हो जाने के कारण विश्वामित्रजी के क्षत्रिय-ओज में ब्रह्मबल का भी अद्भुत संयोग हो गया था, यद्यपि वे युद्धक्रिया परित्याग कर चुके थे परन्तु उस विद्या और कला में दूसरे को पारंगत करने की उनकी शक्ति अक्षुण्ण थी। संभवतः ऋषिमंडल के प्रस्तावानुसार ही वे अयोध्या-नरेश के दरबार में उपस्थित हुए और जब यज्ञ-रक्षणार्थ उन्होंने महाराज दशरथ से याचना की, कि :—

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर-बध मैं होव सनाथा ॥—(मानस)

तब उसमें अत्युक्ति न होकर उस काल की गति-विधि की सूचना महाराज को दे दी थी कि उनके वर्तमान रहते हुए भी ऋषिगण अनाथवत् हो रहे हैं और आर्य-संस्कृति का उद्धारक तथा रक्षक कोई नहीं दिखता। श्रीरामजी और लक्ष्मणजी पर सबकी आशाएँ टिकी हुई हैं। उनको पाकर वे सनाथ हो जावेंगे। महाराज दशरथ के अनेक अनुनय, विनय, क्षोभ और अधैर्य की अवहेलना करते हुए विश्वामित्रजी अपनी माँग पर डटे रहे और गुरु वशिष्ठ के सहयोग से अपनी मिशन (mission) में सफल हुए।

विश्वामित्रजी ने दोनों वीर बालकों को वन में ले जाकर, कष्टप्रद जीवन व्यतीत करने, भूख-प्यास, शीतोष्णादि सहने एवं उत्साहपूर्वक नाना संकट झेलने का पूरा अभ्यासी बना दिया। इतना ही नहीं, बरन कुछ राक्षसों का वध अपने सम्मुख कराके विश्वामित्रजी ने श्रीराम-लक्ष्मण को शस्त्र-विद्या में ऐसा निपुण कर दिया कि वे अजेय हो गये। पुनः मिथिला में ले जाकर बड़े-

बड़े वीर राजाओं के समक्ष धनुष भंग कराके, रावण को मानो चुनौती भिजवा दी, कि उसका 'काल' उत्पन्न हो गया।

श्री राम और लक्ष्मण को इस प्रकार शिक्षा-सम्पन्न कराने का श्रेय गुरुदेव वशिष्ठ की दूरदर्शिता को है। चारों भाइयों का मिथिला में विवाह सम्बन्ध हो जाने से दो प्रमुख (ज्ञानी और शक्तिशाली) क्षत्रिय-कुलों का पूर्व विद्वेष दूर हो गया और दोनों कुल ऐक्य-पाश में बिद्ध हो गये। विवाह के पश्चात् चारों भाई अपने पूज्य पिता के पार्श्ववर्ती रहकर उनको आनन्द देने लगे। कुछ समय व्यतीत होने पर भरत और शत्रुघ्न को उनके मामा युधाजित् अपने घर ले गये। राजधानी में श्री रामजी राज्य-कार्यभार में अपने वृद्ध पिता की सहायता करने लगे और अपने शील तथा सद्गुणों के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। निदान वह समय भी आया जब महाराज दशरथ ने अपने 'मन की साध' जो वर्षों से उनके चित्त में बस रही थी, 'राम-राज्याभिषेक' के रूप में पूर्ण करनी चाही। लोकसम्मति का आश्रय पाकर जब महाराज ने गुरु वशिष्ठ से वही आशय प्रकट किया और मंगल सायत शोधने के लिए कर जोड़ अभ्यर्थना की, तब ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने संदिग्ध शब्दावली की शरण लीः—

वेगि विलम्ब न करिय नृप, साजिय सबै समाज।
सुदिन, सुमंगल, जबहिं जब राम होहिं युवराज॥ (मानस)

यह उत्तर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की स्पष्टवादिता में अवरेव उत्पन्न करता है। त्रिकालज्ञ गुरुदेव यह तो जानते ही थे कि श्री राम-अभिषेक होगा नहीं, तब दशरथजी की प्रार्थना पर स्पष्ट रूप से उन्होंने कह क्यों नहीं दिया कि यह स्वाँग मत रचाओ, तुम्हारा मंतव्य पूर्ण होने का नहीं। यही नहीं, किन्तु जब इसके साथ यह बात भी जोड़ी जाती है कि यह महोत्सव भरत की अनुपस्थिति में किया जा

रहा था और उसकी सूचना केकय-नरेश तथा मिथिलेश दोनों मुख्य सम्बन्धियों को भी नहीं दी गई थी, तभी हमें गुरुदेव की निस्पृहता पर भी संकोच होने लगता है। दशरथजी तो राम-स्नेह से विमोहित थे। संभवतः उनको भरत की उपस्थिति वांछनीय न दिखी हो। वे मान सकते थे कि उनके कार्य का विरोध कोई पुत्र न करेगा; परन्तु कुलगुरु और राज्य के प्रधान संचालक होने के नाते ब्रह्मर्षि वशिष्ठ पर तो विशेष उत्तरदायित्व था कि वे धर्मनीति और राजनीति में कोई विपर्य्यय उत्पन्न न होने दें। उनकी ध्वन्यात्मक वाणी उनके उच्चपदानुरूप नहीं जँचती। परन्तु जब सब पूर्वापर स्थिति के ऊपर विचार किया जाता है तब यही निष्कर्ष निकलता है कि वे और कुछ कह भी नहीं सकते थे। गुरुदेव के सामने दो प्रश्न थे। पहला, दशरथजी की प्रबल इच्छा और राज्य-घोषणा। दूसरा, ऋषिमंडल का आन्तरिक उद्योग और उसकी पूर्ति। जिस महान् कार्य के लिए उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मण को सम्पन्न किया और कराया था वह, राम-अभिषेक हो जाने से, अपूर्ण रह जाता। यदि महाराज दशरथ राम-राज्याभिषेक का संकल्प न भी करते अथवा गुरुदेव उन्हें घोषणा करने से रोक देते तथा ऋषि-संघ दशरथजी से यह याचना भी करता कि वे रावणादि निशाचरों का वध करने के लिए श्री राम-लक्ष्मणजी अथवा किसी एक को भी, दक्षिणारण्य में भेज दें तो दशरथजी सरीखे वृद्ध पिता अपने किसी भी प्राणप्रिय पुत्र को इस दुर्घट कार्य के लिए भेजने को कभी राजी न होते। कदाचित् इसी भय से ऋषिमण्डल ने यह गुप्त उपक्रम रचा और दशरथजी द्वारा श्री राम-युवराजत्व की घोषणा होते ही, मन्थरा दासी द्वारा, महारानी कैकेयी को वे इतिहास-प्रसिद्ध वरदान सुझवाये जिनके कारण श्री रामजी अभिषिक्त न होकर वन-पथ की ओर अग्रसर हुए और दशरथजी के दिये हुए अभिवचन की भी पूर्ति हो गई। संभवतः इसी कारण वनवास की अवधि चौदह वर्ष निश्चित

की गई। यदि कैकेयी को अपने पुत्र भरत को अयोध्या का निष्कंटक राज्य दिलवाना ही अभीष्ट होता तो वह राम-निर्वासन की अवधि चौदह वर्ष की क्यों रखती ? इतना तो वह समझ ही सकती थी कि चौदह वर्ष के पश्चात् या तो भरत को सिंहासन खाली करना पड़ेगा या श्री रामजी से युद्ध मोल लेना पड़ेगा।

ऋषिमण्डल की धारणा (कि श्री राम राज्यासीन न होकर निशाचरों का नाश करने को दण्डकारण्य को प्रस्थान करें) आर्य-जाति के उत्थान के हेतु मङ्गलमय और पवित्र भावना थी। उस प्रस्ताव को पूर्ण कराने का भार गुरु वशिष्ठ पर था। उस मंतव्य को हृदयस्थ रखते हुए, गुरुदेव ने दशरथजी के विचारों में प्रकट रूप से कोई हस्तक्षेप नहीं किया परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उनकी इच्छा फलवती नहीं होने दी। उस अत्यन्त लोकहितकारी उच्चाशय को पूर्ण करने-कराने में जो भाग गुरुदेव का रहा, वह किंचित् भी दोषयुक्त नहीं माना जा सकता। वह उनके महत्पद और बुद्धिश्रेष्ठता का द्योतक है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस दृष्टिकोण से रानी कैकेयी उस घृणा की पात्र नहीं रहती, जो उसके माथे पर थोपी गई है।

छठा प्रकरण

लोकमत की उग्रता

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।—गीता

अयोध्या की सौभाग्य-दीपावली, राम-स्नेह से प्रदीप्त होकर, रात्रि के आनन्द-कल्लोल में लीन हो, जिस मङ्गल-प्रभात का स्वप्न देख रही थी, उसकी स्वर्णिम रेखाएँ उदित होने के पूर्व ही कैकेयी के क्रूर वरदानों की कालिमा में विलुप्त हो गईं। वनवास की कटु कथा चारों ओर फैल गई। उसकी प्रथम प्रतिक्रिया का अनुमान तुलसीदासजी की एक अर्धाली से लगाया जा सकता है—

नगर व्याप गई बात सुतीछी ।
छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी ॥

अनिष्ट संवाद स्वयं द्रुत गति से प्रसारित होता है। फिर जहाँ उससे राज्य-कुल के श्रेष्ठ व्यक्तियों का सम्बन्ध हो और उन व्यक्तियों से प्रजा की हिताहित-साधना की आशा-दुराशाएँ सम्बद्ध हों वहाँ क्या पूछना? बिच्छू का डंक किसी भी अंग में छूते ही जिस तीव्रता से अपना विष सारे शरीर में फैलाकर प्राणी को व्याकुल कर देता है, उसी प्रकार श्री राम-निर्वासन के तीक्ष्ण संवाद से अयोध्यावासी जलने लगे। कोई राजा को भला-बुरा कहता, कोई रानी को कोसता। भरत के सम्बन्ध में, उनकी अनुपस्थिति में ही, जनता तीन श्रेणियों में विभक्त हो गई। एक में वे लोग थे जिन्हें इस काण्ड में भरत का गुप्त हाथ प्रतीत होता था और ऐसे लोगों का बहुमत था—

एक भरत कर सम्मत कहहीं।

दूसरे दल में वे थे जो इस अनर्थ से भरत का सम्बन्ध निश्चित न कर सके थे—

एक उदास-भाव सुन रहहीं।

तीसरे वर्ग में वे थोड़े-से सज्जन थे जिन्हें भरत-हृदय की परख पहले से थी—

कान मूँदि कर रद गहि जीहा।
एक कहहिं यह बात अलीहा॥
सुकृत जाय अस कहत तुम्हारे।
भरत राम कहँ प्राण-पियारे॥

विद्रोहाग्नि भड़कने लगी थी और सारी प्रजा में हलचल मच गई थी। नगर के गण्य मान्य नागरिक अन्तःपुर में प्रवेश न कर सकते थे। इसलिए वस्तुस्थिति जानने के अभिप्राय से उन्होंने उच्च कुल की वृद्धाओं और चतुर ब्राह्मण-वधुओं को महल में भेजा। उन विदुषियों ने रानी कैकेयी को बहुत समझाया परन्तु वह टस से मस न हुई। न्याय, नीति तथा प्रेम-आलापों का उस कुटिल प्रबोधी रानी पर कोई प्रभाव न पड़ा। जब यह सब वार्ता पुर-वासियों को मालूम हुई तब उनका क्रोधित और क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। जब श्री रामजी, सीता और लक्ष्मण महलों को त्यागकर वन को जाने लगे तब तो पुरवासियों के आर्तनाद से आकाश कम्पायमान होने लगा और जन-समूह उन वन-पथिकों के पीछे दौड़ा। महाकवि केशवदास ने उस दृश्य की सुन्दर कल्पना की है—

राम चलत सब पुर चल्यौ जहँ तहँ सहित उछाह।
मनो भगीरथ-पथ चल्यौ भागीरथी-प्रवाह॥

पुरवासीगण अपनी अपनी मंडलियों में, भिन्न भिन्न स्थानों में, इस अकल्पित घटना की चर्चा कर रहे थे। ज्यों ही उन्होंने श्री रामजी को सीताजी एवं लक्ष्मण समेत रथ पर बैठे वन की ओर जाते देखा, वे उद्विग्न और उत्तेजित हो गये। उनका बिखरा हुआ उत्साह सिमटकर एक तीव्र धारा में परिणत हो गया। वह जन-धारा श्री रामचन्द्रजी के रथ के पीछे उसी भयंकर वेग से बह चली जिस वेग से महराज भगीरथ के रथ के पीछे गंगाजी की धारा बही थी।

कुछ समय पहले ही महाराज दशरथ ने प्रजा की अनुमति लेकर श्रीराम को राज्य देने की घोषणा की थी और कुछ समय पश्चात् वही प्रजा अपने प्राणों का निर्वासन देख रही थी। जिस राज्य में ऐसा अन्धेर हो सकता है, जो राजा प्रजा के मन्तव्यों से इस प्रकार खिलवाड़ कर सकता है, जिस राज्य की एक रानी अपनी स्वेच्छाचारिता की वेदी पर राजा, राजपुत्र, प्रजा तथा सार्वजनिक हितों का निरंकुशतापूर्वक बलिदान कर सकती है, वहाँ अपने स्वत्वों को इस कठोरतापूर्वक कुचले जाते देख कौन नागरिक धैर्य रख सकता था? निदान निहत्थी प्रजा ने उसी उपाय का अवलम्बन किया जिसे आजकल की भाषा में 'सत्याग्रह' कहते हैं। प्रजाजनों ने श्री रामजी का मार्ग रोक दिया और कुछ तो उनके सामने लेट गये और विनीत भाव से प्रार्थना करने लगे—

राजा हमने राम! तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।

(साकेत)

श्री रामजी ने प्रजा को सान्त्वना दी। उन्होंने अपने पूज्य पिता की सत्य-रक्षा, अपने लोकहितकारी प्रण के संकल्प तथा भरत की पवित्र भावना का विश्वास दिलाया, फिर भी पुरवासियों ने

पीछा न छोड़ा और तमसा-तीर चले गये। रात्रि में सब लोग विश्राम करने लगे और अरुणोदय होने के बहुत पहले ही जब पुर-वासी जाग्रत भी न हो पाये थे, श्री रामजी आगे बढ़ गये। इस दशा में उदास-चित्त अयोध्यावासी वापस लौटे। नगर सुनसान था। ऐसा प्रतीत होता था मानो वहाँ भूकम्प हो गया हो। यह दशा तो नगर की राम-वन-गमन के समय थी। पश्चात् जब अयोध्या पर महाराज की मृत्यु का वज्र गिरा तब तो लोगों की व्याकुलता उस सीमा को पहुँची जिसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। वह वर्णन से परे है।

वहाँ ननिहाल में भरत की क्या दशा थी ? इसे प्रदर्शित करने के निमित्त श्री वाल्मीकिजी एवं श्री तुलसीदासजी ने ज्यों ही यव-निका उठाई है, त्यों ही हमें भरत की मूर्ति अतीव विषण्णतापूर्ण दृष्टिगोचर होती है। जब से अवध में अनर्थ का सूत्रपात हुआ तब से अपशकुन और दुस्स्वप्नों के कारण भरत की मानसिक शान्ति भंग हो गई थी। उनके मुखमण्डल पर आगामी विपत्ति का पूर्वा-भास अपनी श्याम छाया डालने लगा था। विविध कल्पनाओं के जाल में फँसे हुए उनके चित्त को विराम भी न मिलने पाया था कि गुरु वशिष्ठ का आदेश लेकर अवध के दूत आ पहुँचे। भरत अपने अनुज समेत अविलम्ब ननिहाल से रवाना हो गये। दूतों के चित्त भी खिन्न और सशंक थे। भरत ने उनसे अयोध्या की कुशल-वार्ता पूछी। क्रूर व्यंग्य में दूतों ने उत्तर दिया—

'आप जिनकी कुशलता जानना चाहते हैं, वे सकुशल हैं।'

(वाल०)

अज्ञात कारण से उत्पन्न उद्विग्नता, नैराश्य और चिन्ता के वायुमंडल में पथ पूर्ण कर जब वे राजधानी पहुँचे तब चारों ओर शून्यता, निःस्तब्धता और भयंकरता का आवास पाया। पुरद्वार में

प्रवेश करने पर 'प्रहरियों का मौन विनयाचार' देख उनसे कुछ पूछने का उन्हें साहस न हुआ। उनके चित्त का क्षोभ बढ़ता ही गया, जब उन्होंने देखा कि—

सिमिट आते हैं जहाँ जो लोग,
प्रकट कर कोई अकथ अभियोग,
मौन रहते हैं खड़े बेचैन,
सिर झुका कर फिर उठाते हैं न।
चाहते थे जन करें आक्षेप।
दीखते थे पर भरत निर्लेप!

(साकेत)

सड़कें सिंचन से हीन, वृक्ष अनफूले।
थे विहंग सब मौन, काकली भूले।
आलय थे तोरण-हीन, केतु थे ढीले,
थे उज्ज्वल नीले लाल पड़े वे पीले।

(सा० सं)

नागरिकों की मुखाकृति, चेष्टा, स्वागतहीनता तथा वातावरण की अशोभा, सरल-हृदय भरत के मन में अतीव भय, आशंका और विषाद उत्पन्न कर रहे थे। अयोध्या पर क्या बीती थी, इसका कुछ भी बोध उन्हें न था। अन्तःकरण की आशाएँ अन्धकार में धँसी जा रही थी। विपरीत लोकमत की प्रखरता स्वयमेव उद्भासित हो रही थी। उसके कारण का कोई अनुमान वे न लगा सकते थे परन्तु उसके ताप का अनुभव अवश्य पा रहे थे। भड़का हुआ लोकमत यदि शीघ्र ही शान्त न किया जावे तो वह विकराल रूप धारण कर बड़े-बड़े साम्राज्यों को भस्म कर डालता है। जनसाधारण को भड़कते देर नहीं लगती। समाज सच्चे-झूठे आक्षेपों पर उत्तेजित हो उठता है।

सार्वजनिक अपवाद सदा नीति और न्याय के नियमों पर नहीं चलता। वह तो बहुधा कल्पना के परों पर उड़ शीघ्रता से बवंडर का रूप धारण कर लेता और विकास के नियमों का उल्लंघन कर उत्क्रान्ति में परिणत हो जाता है। अयोध्या में पैर रखते ही भरत ने अपने आप को ऐसे ही धधकते हुए लोकमत के कलुषित वातावरण में चारों ओर से घिरा हुआ पाया।

सातवाँ प्रकरण

अन्तःपुर में

(अ) जननी और जात

भयभीत भरत आ गये महल में माँ के,
देखे अटपट ही हाल कराल वहाँ के।
कोई दासी रो उठी, हँसी झट कोई,
लाई पाँवर के लिए पीत पट कोई॥
सुनते ही पहुँची वहाँ कैकयी रानी,
आरती उतारी, दिया अर्घ्य का पानी। (सा० सं)

महर्षि वाल्मीकि का कथन है कि माता के महल में प्रवेश करने पर ज्यों ही भरत ने अपने पूज्य पिता को वहाँ न पाया त्यों ही शंकित हृदय से महाराज की अनुपस्थिति का कारण महारानी से जानना चाहा। प्रपंच का पूर्व वृत्त भरत को अपनी माता द्वारा प्राप्त हुआ, जो महारानी कैकेयी ने रहस्यमयी रुचिर भूमिका से उगला—

आदिहि तें सब आपनि करनी।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥ (मानस)

पूज्य पिता का स्वर्गारोहण तथा ज्येष्ठ बंधु श्री रामजी का वल्कल वस्त्र धारण कर दंडक महावन को प्रस्थान सुनते ही उन्होंने चीख मारी और भयभीत होकर उसका कारण जानना चाहा। माता से प्रश्न किया कि वह कौन सा गुरुतर अपराध श्री रामजी से बन पड़ा जो उनके निर्वासन का कारण हुआ।

"क्या श्री रामचन्द्रजी ने किसी ब्राह्मण का धन छीना अथवा बिना अपराध किसी की हत्या कर डाली या किसी स्त्री पर कुदृष्टि की ? वे किस कारण निर्वासित किये गये ?" (वाल०)

और जब उन्हें इस क्रूर रहस्य के अन्तरंग का पता चला, तब—

भरतहिं बिसरेउ पितु-मरन सुनत राम बन-गौन।
हेतु अपन पुनि जान जिय थकित रहे धरि मौन ॥

(मानस)

धक्का ही इतने जोर का था कि मौन न रहते तो करते ही क्या ? यह मौन स्वीकृति का द्योतक न था किन्तु उस अवस्था का निर्देशक था जब किसी अकस्मात् घटना से मनुष्य का मस्तिष्क क्रियाशून्य होकर स्तब्ध हो जाता है, और उसे आन्तरिक कष्ट या भावना प्रकाशित करने का कोई उपाय नहीं सूझता। माता कैकेयी ज्यों-ज्यों भरत को अपना दुलार अर्पण कर अपने कुकृत्य का अनुमोदन चाहती त्यों-त्यों भरत की क्रोधाग्नि और शोकाग्नि अधिक भड़कती। कैकेयी की ज्ञान-चर्चा उनके जले दिल पर नमक छिड़कने सरीखा असर पैदा करती। उस समय भरत की दशा उस असहाय पथिक जैसी थी जिसने घने अन्धकार में भटकते हुए सहसा काले नाग के ऊपर चरण से आघात कर दिया हो; विषधर फुफकार मारकर डसने के लिए तत्पर हो और अपने बचने की कोई आशा न देख यात्री चीख मार अवसन्न हो गया हो। संज्ञाहीन भरत धराशायी हुए। कुछ-एक देर में जब होश आया तब रोकर माता से बोले—

"कालरात्रि के समान इस कुल का सत्यानाश करने तू यहाँ आई। पिताजी ने तुझ जलते हुए अंगारे को, अनजाने, अपने घर में रखा। पिताजी और पिता के समान भाई से हीन होने पर मेरा तो सर्वनाश हो गया। ऐसी शोचनीय दशा में राज्य लेकर मैं क्या

करूँगा। तुझ जैसी जननी के साथ रह कर, पुत्रशोक से पीड़ित कौशल्या और सुमित्रा का जीवित रहना कठिन है। रामजी में मेरी कैसी भक्ति है, यह बात तूने नहीं जानी ! इसीलिए लालच में फँसकर इस राज्य के लिए तूने यह अनर्थ कर डाला। यदि श्री रामजी की तुझमें माता के समान श्रद्धा न होती, तो मैं तुझ पापिन को अवश्य त्याग देता। हे पापिन ! मैं तेरी साध कभी पूरी न होने दूँगा, क्योंकि तूने इस घातक प्रपंच का सूत्रपात किया है।"

(वाल०)

महर्षि ने भरत से कैकेयी को और भी कठोर कठोर बातें कहलाई हैं। ये उद्धरण तो नितान्त संक्षिप्त हैं। एक छोटा भाई अकारण अपने ज्येष्ठ बंधु का द्रोही बना दिया जावे तो उसे कलंक-स्थापन-कर्ता पर क्रोध, घृणा एवं ग्लानि होना स्वाभाविक है, इसमें सन्देह नहीं। पर जब कलंक-स्थापक पूज्य माता हो तब हृदय में एक प्रबल अंतर्द्वन्द्व मच जाता है। तामसिक प्रवृत्तियाँ चित्त को चलायमान कर अनिष्ट की प्रेरणा देती हैं तथा मातृभावना की सात्विकता उन उद्वेगों को रोकती है। आदि-कवि ने इस द्वन्द्व का यथेष्ट वर्णन किया है। "साकेत"-कार ने भी इस प्रसंग पर लेखनी चलाई है। माता कैकेयी अपने वात्सल्य के उन्माद में कहने लगीं कि वे वरदान माँगकर यदि उसने कोई अपराध भी किया हो, तो दूसरे जो चाहें कहें—

किन्तु उठ ! ओ भरत ! मेरा प्यार—
चाहता है एक तेरा प्यार।
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे लाल !
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल।
दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप ?
दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप।

संतापित भरत ने अपनी माता को खूब जली-कटी सुनाई—

दण्ड—ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?
है तुषानल तो कमल-दल तल्प ?
जी छिरसने ! हम सबों को मार—
कठिन तेरा 'उचित न्याय विचार'।
मृत्यु ? उसमें तो सहज ही मुक्ति—
भोग तू निज भावना की भुक्ति।
धन्य तेरा क्षुधित पुत्रस्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह।
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त—
और नाचे निज दुराशय-दृप्त।
सब बचाती हैं सुतों के गात्र—
किन्तु देती हैं डिठोना मात्र।
नील से मुँह पोत मेरा सर्व—
कर रही वात्सल्य का तू गर्व ?
... ...
राज्य ! क्यों मा राज्य, केवल राज्य ?
न्याय-धर्म-स्नेह तीनों त्याज्य ?
... ...
किन्तु करके दूसरे का होम—
पान करना चाहती तू सोम !
कौन समझेगा भरत का भाव—
जब करें मा आप यों प्रस्ताव ?
री हुआ तुझको न कुछ संकोच—
तू बनी जननी कि हननी सोच ! (साकेत)

'साकेत-सन्त' के इस प्रसंग के कुछ उद्धरण अपेक्षणीय हैं—

धिक्-धिक् केकय की भूमि कुचक्रोंवाली,
जिसने मंथरा समान नागिनी पाली।
माँ कहूँ मानवी या कि दानवी नारी ?
डाकिनि ने दुर्धर मूठ अवध पर मारी ॥

... ...

किस मुख से कह दूँ इसे कि मेरी माँ है,
यह घोर राक्षसी-निशा कठोर अमा है।

... ...

भैया को कानन भेज पिता को मारा,
कैसे कह दूँ वह आर्य-वंश की दारा ?

भक्त कवि तुलसीदासजी ने भी भरत के मुख से अपनी माता को अपशब्द कहलाकर आदि-कवि की परिपाटी का अनुसरण किया है। जब कैकेयी ने भरत से प्यार और पुचकार के साथ अपनी करतूत वर्णन की, तब—

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारा।
पाके छत जनु लाग अँगारा ॥

भरत-हृदय के तीव्र कष्ट का यह मर्मभेदी उल्लेख है। कैकेयी को अपनी कृति पर पछतावा न था, इस कारण भरतजी और भी लज्जा में गड़ गये और पीड़ित चित्त से बोले—

पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा।

जो पै कुरुचि रही अति तोही।
जनमत काहे न मारेसि मोही ?

... ...

जब ते कुमति कुमत मन ठयऊ।
खंड खंड होय हृदय न गयऊ॥
वर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
जरि न जीभ मुँह परेउ न कीरा॥

हंस बंस दशरथ जनक राम लषण-से भाय।
जननी तू जननी भई विधि ते कहा बसाय॥

उपर्युक्त कथन में विशुद्ध-मानव-हृदय की तीव्र ग्लानि-युक्त वेदना अंकित है। 'पापिनि, मुँह परेउ न कीरा' आदि ऐसे कुशब्द हैं जो बिना घोर ग्लानि और उत्तेजना के मुँह से बाहर नहीं निकल सकते। गँवार पुरुष भी जब ऐसे शब्दों का प्रयोग अपनी माताओं या बहनों से करते हैं तब भद्र समाज उसे अच्छा नहीं समझता। फिर महात्मा भरत जैसे पुत्र अपनी पूज्य माता की पूजा इन शब्दोपचारों द्वारा करें और सन्त तुलसीदासजी सरीखे विद्वान् अपनी लेखनी से उन्हें लिखें तो कोई विशेष कारण अवश्य होना चाहिए। तुलसीदासजी के सम्मुख कैकेयी-कृत्य केवल भाई-भाई के विग्रह का सूत्रपात न था। उनकी दृष्टि में वह भक्त और भगवान् के बीच विद्रोह उत्पन्न करने का शैतानी प्रयत्न था, इस कारण अक्षम्य था। उन्हीं के शब्दों में—

अस को जीव-जंतु जग माहीं,
जेहि रघुनाथ प्राणप्रिय नाहीं?
भे अति अहित राम तेउ तोही।
को तू अहसि, सत्य कहु मोही॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई।
आँखि ओटि उठि बैठसि जाई॥

राम-विरोधी हृदय ते प्रकट कीन्ह विधि मोहि।
मो समान को पातकी, बादि कहौं कछु तोहि॥

तुलसी-मत के अनुसार जो कोई भी श्री रामजी तथा उनके भक्त के बीच में रोड़े अटकाता है वह अभक्त है। जो श्री रामजी से द्वेष या वैर रखता है, वह पापी है। इस कारण त्याज्य है, मुँह देखने योग्य नहीं। जो रसना श्री रामजी की बुराई करती है वह नागिन है, जो शब्दरूपी कीड़े भक्षण करती है। उनका यह पद इसी अर्थ का द्योतक है—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
त्यागिय तिन्हें कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

इस प्रसंग पर 'भरत-भक्ति' के लेखक पं० शिवरत्न शुक्ल ने आपत्ति उठाई है। उनका कथन है—

"कुछ रामभक्त कवियों ने भरत के मुख से कैकेयी के प्रति परुष वचनों को कहलाया है। एक दो बार नहीं, अनेक बार और भरी सभा में। विचार करने का स्थल है कि उन्होंने राम-प्रेम-पीड़ा के वश हो यदि ऐसा कहा भी तो क्या दूसरी ओर उनमें मातृ-भर्त्सना दोष नहीं लग जाता, जिससे उनकी शान्ति भंग हुई जाती है। जब उनके हृदय की शान्ति भंग हो गई तब उस समय उनके हृदय में राम-प्रेम कैसे रह सकेगा।"

लेखक महोदय के मतानुसार भरत का अपना दुःख प्रकाशित करना तो ठीक था किन्तु माता कैकेयी को कटु वाक्य कहना उचित न था। इस उक्ति पर शास्त्रीय वाद-विवाद बहुत-सा हो सकता है, परन्तु उसे यहाँ स्थान देना निरर्थक है। किंचित् सम्बोध ही पर्याप्त होगा।

'भक्ति-योग' के लेखक स्वनामधन्य श्री अश्विनीकुमार दत्त ने अपने उक्त ग्रंथ में 'क्रोध' का विवेचन करते हुए लिखा है—

'क्षमा, शील और दयावान् होने के लिए जो कुछ कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि दुष्ट कर्म और अधर्म का

विरोधी हमें होना ही न चाहिए। तुम्हारे आस-पास यदि जरा भी अधर्म दिखाई दे तो तुरन्त उसका विरोध कर दो। जो मनुष्य अधर्म के विरोध में सिर नहीं उठाता वह ईश्वर का अपराधी है।'

कठोरता की अपेक्षा नम्रता ही विशेष हितकर है। इतने पर भी जब बिना क्रोध दिखाये कार्य-सिद्धि न होती हो तो क्रोध प्रदर्शन करने में कोई हानि नहीं। यद्यपि सन्त पुरुष बाहरी क्रोध दिखाते हैं तो भी उनके मन की शान्ति भंग नहीं होती। जिस प्रकार एक जलते हुए तिनके से सागर का पानी उबल नहीं सकता उसी प्रकार किंचित् क्रोध से सागर के समान महात्माओं का मन अशान्त नहीं हो सकता।

शुक्लजी को तर्क एवं सुरुचि-पूर्ण दूसरा उत्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहले से ही दे रखा है—

'जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा, वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। "राम" पूर्ण धर्मस्वरूप हैं, क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं, उसे धर्म प्रिय नहीं।...

'इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोक-मग्न हो जाती है। दशरथ प्राण त्याग करते हैं। भरत कोई संसार-त्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जावेगा? भरत, धर्मस्वरूप भगवान् रामचन्द्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गये हैं। अतः काव्य-दृष्टि से इस अमर्ष के द्वारा

उनके राम-प्रेम की जो व्यंजना हुई है, वह अपना विशेष लक्ष्य रखती है।' (चिन्तामणि)

भक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आकाश से गिर पड़े और जिसे उठाकर कोई भी भाग्यवान् पूर्ण भक्त बन जाय। मानव-हृदय में भक्ति का विकास क्रमश: उत्तरोत्तर रूप में होता है। भरत के चरित्र-चित्रण में भक्त कवि तुलसीदास ने यही विकास-क्रम प्रदर्शित किया है। यदि हम शुरू से ही भरतजी को पूर्ण ज्ञानी भक्त मान लें तो आगे की सारी कथा नीरस हो जावेगी। पूर्ण भक्त को संसार से या लोक-व्यवहार से अपेक्षा ही क्या रह जाती है? वह तो सर्वत्र एकाकार अनुभव करता है। कोई जंगल को गया तो क्या, घर पर रहा तो क्या? भरत की रामभक्ति पूर्ण थी या अपूर्ण, इसका प्रमाण तो आगे मिलेगा। इस स्थल पर उनकी साधुता का प्रथम प्रदर्शन है। लोक-हित की दृष्टि से भी यदि इस विषय पर विचार किया जावे तो तुरन्त ही विदित हो जाता है कि भरत ने जो कुछ कहा और किया वही उन्हें कहना और करना चाहिए था। यदि वे अपनी माता के कृत्य को चुपचाप सहन कर अपने हृदय की गंभीरता बताने का प्रयत्न करते और जोरदार शब्दों में उसका प्रतिवाद न करते तो क्या वे उस प्रचण्ड लोकमत को, जो उनके तथा उनकी माता के विरोध में मुँह फैलाये घेरा डाले था, किसी तरह शान्त कर सकते थे? कदापि नहीं। प्रजा की अशान्ति राज्य में अराजकता का प्रसार कर देती और जिस साम्राज्य की थाती श्री रामजी, भरत के भरोसे, छोड़ गये थे उसकी क्या दुर्गति होती? निदान महामना भरत अपनी माता की ऐसी कटु भर्त्सना करके ही निश्चिन्त न हुए। ये सब बातें उन्होंने माता से एकान्त में नहीं कीं, वरन् सब दास-दासियों के सम्मुख कहीं। इसका एक कारण यह भी था कि राज-घराने के दास-दासी ऐसी बातों का प्रचार बाहर करने में बड़े कुशल होते हैं। उसका यह

भी परिणाम हुआ कि कैकेयी की हृदय-कठोरता, जो महाराज दशरथ की विनय एवं मृत्यु तथा अन्य स्त्री-पुरुषों के न्याययुक्त नैतिक वचनों से जरा भी कम नहीं हुई थी, भरत के प्रबल विरोध एवं शीलयुक्त क्रोध (Rightecus anger) से पराजित हो गई। वह माता, जिसने अपने पुत्र-हित के हेतु काल्पनिक सुख की सृष्टि सँजोई थी, जिसने अपने मातृ-मन्दिर में मृदुल वात्सल्य की दीप-शिखा को आलोकित करने के अर्थ स्नेहरूपी वरदान पति से प्राप्त कर बिना आपत्ति वैधव्य स्वीकार कर लिया था, जब अपने उसी लाड़ले पुत्र से इस प्रकार तिरस्कृत होती है और अपने कृत्य के परिणामस्वरूप अपने मुख पर उस दीप का कलुषित धूम्र ही पुता पाती है तब उसकी आत्मग्लानि का क्या ठिकाना? उसने भरत से कहा—

तेरे हित मैंने हृदय कठोर बनाया,
तेरे हित मैंने राम विपिन भिजवाया,
तेरे हित मैं हूँ बनी कलंकिनी नारी,
तेरे हित समझी गई महा हत्यारी।

... ...

क्या वे वर तुझे न रुचे, हुआ क्या धोखा?
क्या मैंने सच ही किया कुकृत्य अनोखा! (सा० सं)

कैकेयी के अन्तश्चक्षु खुल गये। उसे अपनी भूल प्रतीत होने लगी। वह दीन पड़ गई। किन्तु धनुष से छूटा हुआ तीर तो अपना कार्य कर ही चुका था।

माता की भर्त्सना कर चुकने के उपरान्त, उस मन्दिर के वातावरण में भरत का दम घुटने लगा और उन्होंने वहाँ अधिक ठहरना उचित न समझा। कैकेयी और मंथरा की उपस्थिति में शत्रुघ्न का क्रोध भी उफान ले रहा था, उन्हें भी वहाँ से हटा ले जाना भरत को उचित दिखा। वे बोले—

तू री करनी पर, धधक रहा उर मेरा।
है कालपाश-सा मुझे घोर यह घेरा।
और
आँसू आहों से भरे, वचन ये कहकर,
दुख-दग्ध भरत झट गये बड़ी माँ के घर।।

(ब) कौशल्या की गोद में

श्री वाल्मीकिजी का लेख है कि जब देवी कौशल्या ने कैकेयी-भवन में भरत का रोना सुना तब वे उनसे मिलने उस महल की ओर गईं। तुलसीदासजी का कथन है कि "कौसल्या पहँ गे दोउ भाई।" जो भी हो—

दोनों, दोनों को देख दुःख में डूबे,
मन में बँधकर रह गये वचन मनसूबे।
कंठावरोध के बाद होश जब आया,
पैरों पर माँ ने पड़ा भरत को पाया। (सा० सं)

भरत कौशल्याजी की गोदी में पड़े फूट-फूट कर रोने लगे। कुछ देर के बाद भग्न-हृदया कौशल्याजी बोलीं—

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्,
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा। (वाल०)

(तुमने राज्य पाने की कामना की थी सो क्रूर कर्म करनेवाली तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म करके तुम्हें निष्कण्टक राज्य दिला दिया।)

शोकवश हो या संशयवश, देवी कौशल्या के चित्त में यह संदेह था कि भरतजी स्वयं राज्य लेने के इच्छुक थे, अन्यथा कैकेयी ऐसा क्रूर वरदान न माँगती। कौशल्याजी की मर्मवेधी वाणी सुनकर भरत को घाव में सुई चुभने जैसी वेदना होना ठीक ही था। अपनी

निर्दोषिता और अनभिज्ञता प्रमाणित करने के लिए, अनेक शपथों द्वारा आश्वासन देते हुए, सन्तापित भरत बेसुध होने लगे, तब माता कौशल्या का हृदय शुद्ध हुआ और वे भरत को धैर्य बँधाने लगीं—

'हे वत्स, इस तरह शपथें खाकर तुम मुझ दुखिया का दुःख अधिक बढ़ा रहे हो। सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा मन अपने अग्रज की ओर से चलायमान नहीं हुआ और लक्ष्मण की भाँति तुम भी सत्यप्रतिज्ञ हो। तुमने मेरे निकलते हुए प्राणों को रोक लिया।' अब कौशल्याजी ने महाबाहु भ्रातृ-वत्सल भरत को हृदय से लिपटा लिया। कौशल्या द्वारा लाड़ किये गये, विलाप करते हुए, पृथ्वी पर छटपटाते भरत ने वह रात व्यतीत की।' (वाल०)

श्री मैथिलीशरणजी ने इस दृश्य का संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन किया है। शोक से विह्वल भरत कौशल्याजी को खोज रहे थे। आतुरता, चिन्ता, भय और शोक से नेत्र अश्रुपूरित होने के कारण भरत को कौशल्याजी दिखलाई नहीं देती थीं। वे अपने दुःख की अपारता अथवा सन्देह या क्षोभ के कारण मौन थीं। आतुर भरत ने रोकर पुकारा—

तुम कहाँ हो, अम्ब ! दीना अम्ब !
पति-विहीना, पुत्रहीना, अम्ब !
आज माँ मुझ-सा अधम है कौन ?
मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन।
प्राप्त है यह राज्यहारी चोर।
दूर से षड्यंत्रकारी घोर।
आ गया मैं गृह-कलह का मूल।
दण्ड दो, पर दो पदों की धूल। (साकेत)

अन्त में देवी कौशल्या ने अत्यन्त गद्‌गद स्वर में भरत को निर्दोषिता का प्रमाण-पत्र दिया।

वत्स, यह सब झूठ, तू निष्पाप।
साक्षिणी तेरी यहाँ, मैं आप।
भरत में अभिसन्धि का हो गन्ध,
तो मुझे निज राम की सौगन्ध।
... ...
मिल गया मेरा मुझे तू राम।
तू वही है, भिन्न केवल नाम॥
भर गई फिर आज मेरी गोद।
आ, मुझे दे राम का सा मोद। (साकेत)

सन्त तुलसीदासजी ने यह कभी प्रकट ही नहीं होने दिया कि भरतजी के प्रति माता कौशल्या को किसी प्रकार का सन्देह था। उन्हें यह गवारा ही न था कि श्री राम-माता अपने उच्च निर्मल हृदय में ऐसी असद्भावना को स्थान भी दें। इसलिए इस सन्देह कल्पना का उत्थान उन्होंने भरत-चित्त में करा के अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उस विपरीत परिस्थिति में सारा वायुमण्डल ही सन्देह-विष से पूरित था। भरतजी को स्वयं पग पग पर उसकी गंध आती थी। उन्होंने मान लिया था कि हर एक व्यक्ति उनकी ओर सशंक दृष्टि से देख रहा है। निदान जैसे ही भरत ने कौशल्याजी के स्वरूप को देखा—

'मलिन-वसन, बिबरन, विकल, कृश, शरीर-दुख भार'

और जैसे ही माता की आँखें भरत पर पड़ीं तो—

भरतहिं देख मातु उठ धाई।
मुरछित अवनि परी अकुलाई॥

माता की ऐसी दशा देख भरत को चारा ही क्या था, सिवाय इसके कि वे कौशल्याजी के चरणों में गिर जावें और स्वयं सुध-बुध खो बैठें। तुलसीदासजी का यह चित्रण ऐसा अकृत्रिम और

अप्रतिम है कि उस करुणा चित्र का दर्शन बिना अश्रुदान के नहीं होता। समवेदना स्थिर नहीं रहती। कभी भरत की ओर और कभी कौशल्या की ओर बरबस खिंच जाती है। दोनों निरपराध थे, दोनों दुखी थे। भरत ने गगनभेदी निनाद किया—

मातु तात कहँ देहु दिखाई।
कहँ सिय राम लखन दोउ भाई॥

तब मानो उस सदन के कोने-कोने से भरत को उत्तर मिला कि वे राम-माता से न पूछकर अपनी माता से पूछें। भरत अपनी माता और स्वयं अपने को धिक्कारने लगे—

कैकयि कत जनमी जग माँझा।
जो जनमी तो भइ किन बाँझा॥
कुल-कलंक जिहि जनमेउ मोही।
अपयश-भाजन प्रिय जन-द्रोही॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी?
गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर, वन रघुकुल-केतू।
मैं केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग मोहिं भयउँ बेनु-बन-आगी।
दुसह दाह दुख दूषण भागी॥

(मानस)

कौन कठोरता होगी जो इन आहों से न पिघल जाय? कौन-सी आक्रान्त मलिनता होगी जो इस वेदना-नीर से न धुल जाय? भरत के तप्त हृदय से निकले हुए ऐसे शीतल वचन सुनकर माता कौशल्या अपना रुदन भूल गईं और पुत्र की सँभार करने के लिए उठ बैठीं। उन्होंने भरत को अंक में भर लिया—

अति हित मनहुँ राम फिर पाये ॥
माता भरत गोद बैठारे ।
आँसु पोंछ मृदु वचन उचारे ॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू ।
कुसमय समझ शोक परिहरहू ॥
जनि मानहु जिय हानि गलानी ।
काल कर्म गति अघटित जानी ॥

देवी कौशल्या ने अपने स्वभाव-गुण के अनुसार भरत को शान्त करने तथा विपरीत समय में उनके हृदय में उत्तरदायित्व जाग्रत करने की चेष्टा की। परन्तु व्यग्र भरत को कौशल्याजी के शोक एवं स्नेह ने और भी अधिक विचलित कर दिया। आवेग प्रबल था ही, अपनी निष्कपटता और निष्कलंकता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कठोर शपथें लेना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप कौशल्याजी का विकार (यदि कुछ शेष था) स्वेद रूप से बह गया। सुप्त मातृत्व जाग्रत हो उठा। देवी कौशल्या का चित्त विमातृत्व की ओर नवनीत-सा उज्ज्वल और कोमल हो गया। उन्होंने आन्तरिक आशीर्वाद दिया—

राम प्रान तें प्रान तुम्हारे ।
तुम रघुपतिहिं प्रान तें प्यारे ॥
मत तुम्हार यह जो जन कहहीं ।
ते सपनेहु सुख सुगति न लहहीं ॥
अस कहि मातु भरत हिय लाये ।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाये ॥

किन्तु भरत के हृदय-सागर का ज्वार अभी शान्त नहीं हुआ।

(म) गुरुदेव के सम्मुख

उसी समय कुलगुरु वशिष्ठजी भी, अन्य ऋषियों समेत, वहाँ पहुँच गये। भरत को उनका सबसे अधिक आश्रय और विश्वास था। गुरुदेव से साक्षात्कार होते ही भरत अधीर हो गये और उन्होंने अपने चित्त की शंका (कि गुरुदेव के होते हुए साकेत में इतना विग्रह मच जावे और गुरुदेव चुपचाप रहें) उपस्थित कर दी—

"क्या हुआ, गुरुदेव, यह अनिवार्य ?"

इस प्रश्न का निराकरण गुरुदेव ने इन शब्दों में किया—

वत्स ! अनुपम लोक-शिक्षण-कार्य।
त्याग का संचय, प्रणय का पर्व—
सफल मेरा सूर्य - कुल - गुरु गर्व।

(साकेत)

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अपने पट्टशिष्य के लोक-शिक्षण, त्याग-संचय आदि पर गर्वीले हो रहे थे, परन्तु भरत के आकुल तथा व्यथित हृदय की सान्त्वना को ये शब्द कितने असंगत थे ? एक ओर जहाँ श्री रामजी के आदर्श त्याग और पिता के आज्ञा-पालन की भूरि भूरि प्रशंसा हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर निरपराध भरत पर इतना बृहत् मिथ्या कलंकारोपण ? आत्मश्लाघा प्रकाशित करने को यह अवसर कदापि उपयुक्त न था। तब तो मर्माहत हृदय की गुंजार उठी—

किन्तु मुझ पर आज सारी सृष्टि,
कर रही मानो घृणा की दृष्टि।
देव देखूँ मैं किधर किस भाँति ?

(साकेत)

इस पर गुरुदेव बोले—

भरत ! तुम आकुल न हो इस भाँति।
वत्स देखो, तुम पिता की ओर।
सत्य भी शव-सा अकम्प कठोर।
और देखो भ्रातृवर की ओर।
त्याग का जिसके न ओर न छोर।
और उस अग्रज-वधू की ओर।
वत्स, देखो तुम निहार निहोर।
और देखो उस अनुज की ओर।
आह! वह लाक्ष्मण्य कैसा घोर।
वह विकट व्रत और वह दृढ़ भक्ति।
एक में सब की अटल अनुरक्ति।
और देखो इस अनुज की ओर।
हो रहा जो शोकमग्न विभोर।
वत्स, देखो जननियों की ओर।
आज जिनकी भोग निशि का भोर।
भरत देखो आप अपनी ओर।
निज हृदय-सागर गँभीर हिलोर।
पूर्ण हैं अगणित जहाँ गुण रत्न।
अमर भी जिनके लिए कृतयत्न।
वत्स, मेरी ओर देखो, ओह!
मैं सगद्गद हूँ यदपि निर्मोह।
वत्स, देखो उस प्रजा की ओर।
चाहती है जो कृपा की कोर। (साकेत)

क्या उपर्युक्त कथोपकथन से यह ध्वनि नहीं निकलती कि यह समग्र 'प्लाट' किसी विशेष दृष्टि से रचा गया था, जिसमें इन

पात्रों के चरित्रोत्कर्ष की संभावना निहित थी और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ निर्मोही होते हुए भी गद्गद थे, क्योंकि वे उस उपक्रम के अन्तरंग से परिचित थे। प्रत्येक सूत्रधार अपने पात्रों का यथाविधि प्रदर्शन देखकर हर्ष और प्रेम से प्रसन्न होता है, यह साधारण नियम है। श्री रामजी के अपूर्व त्याग की ओर लक्ष्य देने तथा अपने गम्भीर हृदय को टटोलने का संकेत गुरुदेव ने भरत को अवश्य दिया, किन्तु वे भूल से गये हैं कि बात किससे कर रहे हैं। एक वयोवृद्ध और आदरणीय व्यक्ति दूसरे बालक से (जो पितृविहीन और भ्रातृहीन हो गया हो) लौकिक प्रथा में जैसी बातें करता है, वैसी ही यह सहानुभूति है। उसमें यह भी संकेत है कि भरत शीघ्र ही महाराज दशरथ की अन्त्येष्टि करें, माता और छोटे भाई शत्रुघ्न को धीरज बँधावें तथा राज्यासीन होकर प्रजा-संरक्षण करें। यद्यपि गुरुदेव भरत को बुद्धिमान् और गुणवान् मानते थे तथापि अभी तक उनको उस हृदय-सागर की विशालता तथा गम्भीरता का पूर्ण अनुमान न था। यथार्थतः उनका सूर्य-कुल-गुरु-गर्व तो अभी तक अधूरा ही था। इस ऐतिहासिक घटना में भरत अपना प्रदर्शन किस रूप में करते हैं, यह तो अभी देखना उन्हें बाकी था। वह गुरु-गर्व तो भरत के अपूर्व त्याग के उपरान्त ही पूर्ण हुआ माना जा सकता है। भरत की भावना, धारणा एवं त्याग-वृत्ति का पता बाद में गुरु वशिष्ठ को चित्रकूट में मिला जब उन्होंने भरत की परीक्षा के लिए युक्ति प्रदर्शित की—

तुम कानन गवनहु दोउ भाई।
फेरअहिं लखन सीय रघुराई॥ (मानस)

और इसके उत्तर में भरत ने कहा—

कानन करउँ जनम भरि बासू।
इहि तैं अधिक न मोर सुपासू॥

तब गुरुदेव को ज्ञात हुआ कि भरत कौन थे, क्या थे और त्याग में किस सीमा तक जा सकते थे। वहाँ गुरुदेव ने जाना कि—

भरत महा-महिमा जलरासी।
मुनि-मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार यतन बहु हेरा।
पावत नाव न बोहित बेरा॥ (मानस)

—

आठवाँ प्रकरण

नीर-क्षीर-विवेक

भरत का आज और ही चित्र,
कर रहा था साकेत पवित्र।
... ...
अकेले भरत अशांत, अधीर,
व्यग्र, उद्विग्न, भरे उर पीर।
भ्रम रहे थे उद्देश-विहीन,
विचारों में अपने ही लीन। (सा० सं)

भरत अभी तक केवल माता कौशल्या को अपने पक्ष में कर पाये थे। जनता का बहुमत उनके विपरीत ही था। उसमें साधारण या नीचे की श्रेणी के लोग ही न थे वरन् शिष्ट वर्ग, राज-कार्य-कर्ता, मंत्रीगण आदि भी सम्मिलित थे जो किसी न किसी मात्रा में भरत की ओर से शंकित थे।

पितृ-अन्त्येष्टि से निवृत्त होने के पश्चात् राज-सभा की पहली बैठक हुई। उसमें सबको अपनी अपनी भावनाओं को प्रकाशित करने का खुलकर अवसर प्राप्त हुआ। सबसे प्रथम राज्य-कर्मचारियों ने भरतजी से प्रार्थना की—

"हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री राम को, महा बलवान् लक्ष्मण सहित, वन में भेज स्वर्ग को सिधारे। अतएव हे यशस्वी राजकुमार! आप हमारे राजा हों।

क्योंकि यह राज्य बिना राजा के है और आपके पिता उसे आपको दे गये हैं। इसे ग्रहण करना न तो असंगत है न दोषयुक्त।"
(वाल०)

उनके वचन सुन तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिषेक की सामग्री से भरे हुए पात्रों की प्रदक्षिणा की। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। फिर कुछ धैर्य धारण कर बोले—

देखो, हमारे कुल में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही सिंहासन पर बैठता आया है। श्री रामचन्द्रजी मेरे बड़े भाई हैं। वे ही राजा होंगे। उनके बदले में चौदह वर्ष वनवास करूँगा। मैं वन में जाकर उन्हें यहाँ लिवा लाऊँगा और यह सब सामग्री साथ में ले जाकर वन में ही उनका अभिषेक करूँगा। आप लोग जान-बूझकर ऐसी बातें न कहिए। (वाल०)

तब गुरु वशिष्ठ ने भरत को सम्बोधित किया—

'हे वत्स! महाराज दशरथ इस धन-धान्ययुक्त समृद्धिशालिनी पृथ्वी का राज्य तुम्हें देकर धर्माचरणपूर्वक स्वर्ग सिधारे हैं। अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस 'निष्कंटक' राज्य को तुम भोगो और अभिषेक करा के अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो।' (वाल०)

उक्त आज्ञा को सुन भरत का गला भर आया। 'निष्कंटक' शब्द ने तो मानों उनके हृदय में गहरा कंटक चुभा दिया और वे हाथ जोड़कर बोले—

'सूर्यवंश में ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। महाराज दशरथ से उत्पन्न होकर कोई क्योंकर दूसरे के धर्मानुमोदित राज्याधिकार को अपहृत कर सकता है? केवल यह सारा राज्य ही नहीं, स्वयं मैं भी श्री रामचन्द्रजी का हूँ। आप जो कुछ कहें, धर्मानुमोदित ही कहें। मेरी माता कैकेयी जो पाप-कर्म कर बैठी है, उससे मैं सहमत नहीं। मैं वन में बैठे श्री रामजी को हाथ

जोड़कर प्रणाम करता हूँ। यदि मैं श्री रामजी को वन से न लौटा सका तो लक्ष्मण की तरह वहीं, उनके पास, रहूँगा और वन से श्री रामचन्द्रजी को लौटाने के निमित्त आप सब सभासदों और साधुजनों की उपस्थिति में हर प्रकार के प्रयत्न करूँगा।' (वाल०)

भरत के ऐसे विनीत और भावयुक्त वचन सुनकर सब लोग उनकी और उनके विचारों की प्रशंसा करने लगे। जनता भी भरत की अनुयायी होने लगी। सब समुदाय के समक्ष भरतजी ने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि वे मार्ग का प्रबंध कर यात्रा की तैयारी करें।

भक्त कवि तुलसीदासजी ने इस राजसभा में भरतजी की अति दीनता प्रदर्शित कर उनकी आन्तरिक वेदना का करुण चित्र खींचा है। सभा के एकत्रित हो जाने पर गुरु वशिष्ठ ने भरत और शत्रुघ्न को वहाँ बुलवाया, अपने पास बैठाया और उपदेश देना प्रारम्भ किया। पहले कैकेयी की कठोर करनी का बखान किया, फिर महाराज दशरथ के धर्मव्रत और सत्यवादिता की चर्चा की। तत्पश्चात् श्री राम, लक्ष्मण और सीताजी के गुण, शील एवं स्वभाव की प्रशंसा कर, स्वयं शोकान्वित हो इस महाकाण्ड का सारा अपयश दैव के मत्थे डाल बोले—

सुनहु भरत भावी प्रबल, विलख कहेउ मुनिनाथ।
हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ॥

कदाचित् यह सोचकर कि भरत को राम-वनवास की अपेक्षा पितृ-वियोग का शोक अधिक होगा, गुरुदेव ने दशरथजी की कीर्ति का अत्यधिक वर्णन किया और इस नाते भरतजी की प्रशंसा करते हुए प्रस्ताव किया कि वे सिंहासन आसीन हों—

कहहु तात केहि भाँति कोउ करहि बड़ाई तासु।
राम लखन तुम शत्रुघन सरिस सुवन सुत जासु॥

यह सुन समुझि शोक परिहरहू ।
सिर धरि राज - रजायसु करहू ॥
राव राज-पद तुम कहँ दीन्हा ।
पिता-वचन फुर चाहिय कीन्हा ॥
... ...
नृपहिं वचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राणा ।
करहु तात पितु - वचन - प्रमाणा ॥
करहु सीस धरि भूप रजाई ।
"है तुम कहँ सब भाँति भलाई" ॥
... ...
सुरपुर पाइहि नृप परितोषू ।
तुम कहँ सुकृत, सुयश नहिं दोषू ॥
वेद-विहित सम्मत सब हीका ।
जेहि पितु देय सो पावै टीका ॥
सुनि सुख लहब राम-वैदेही ।
अनुचित कहब न पंडित केही ॥
कौसल्यादि सकल महतारी ।
तेउ प्रजा-सुख होहिं सुखारी ॥
सौंपेहु राज राम के आये ।
सेवा करहु सनेह सुहाये ॥

(मानस)

राज्य-ग्रहण करने के सम्बन्ध से जो कुछ कहा जा सकता था, गुरुदेव ने सब कह डाला और वह भी बड़े सुन्दर उपोद्घात के साथ। एक विद्वान् अधिवक्ता अपने प्रतिपक्षी को निरुत्तर करने के अभिप्राय से जिस प्रकार युक्तियों का चतुर्मुख कोट रच, उससे निकल भागने के द्वार चारों ओर से बन्द कर देता है, उसी प्रकार भरत को राज्यासीन होने के लिए विवश करने के अभिप्राय से

गुरुदेव ने प्रजा, माता, स्वर्गवासी पिता और निर्वासित भाई आदि सब का हवाला तथा श्रुति, नीति, लोकाचार और सामाजिक धर्म के प्रमाण दे डाले। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि चौदह वर्ष के पश्चात् भरतजी वह राज्य-सिंहासन अपने बड़े भाई के लिए रिक्त कर दें और उनके सेवक बन जायँ। गुरु वशिष्ठ ने राजनीति की हद कर दी। उनके प्रस्ताव का समर्थन मंत्रीवर्ग ने इन शब्दों में किया—

कीजिय गुरु-आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोर।
रघुपति आये उचित जस, तब तस करिय बहोर॥

महर्षि वशिष्ठ को तो चौदह वर्ष की अवधि से सरोकार था। वे नहीं चाहते थे कि उस अवधि के पश्चात् भरत सिंहासन पर डटे रहें। परन्तु मंत्रिवर्ग (जो ऋषिमण्डल की योजना से परिचित न था) तो बहुधा उदीयमान सूर्य का उपासक होता है और होने-वाले राजा की कृपा का आश्रय ताकता है। उसने भरतजी से यही कहा कि श्री रामजी के वन से वापिस आने पर वे जैसा उचित समझें, करें अर्थात् सिंहासन छोड़ें या न छोड़ें। इसका निर्णय उस समय किया जावे न कि तुरन्त ही।

गुरुदेव के प्रस्ताव का अनुमोदन माता कौशल्या ने प्रेमयुक्त वाणी से किया—

पूत, पिता गुरु आयसु अहई।
... ...
सो आदरिय करिय हित मानी।
तजिय विषाद, काल-गति जानी॥

श्री राम-माता की शील-सनेह-सरल-रस-सानी वाणी सुनकर भरतजी को कुछ शान्ति अवश्य हुई परन्तु उससे राम-बिछोह का

अंकुर प्रस्फुटित होने लगा। सब सभा को हाथ जोड़कर भरत बोले—

मोहिं उपदेस दीन गुरु नीका।
प्रजा सचिव सम्मत सबही का॥
मातु उचित पुनि आयसु दीन्हा।
अवस सीस धरि चाहिय कीन्हा॥
तुम जो देहु सरल सिख सोई।
जो आचरत मोर हित होई॥
जद्यपि यह समुझत हौं नीके।
तदपि होत परितोष न जीके॥
... ...
अब तुम विनय मोरि सुन लेहू।
मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥
पितु सुरपुर सिय राम वन करन कहहु मोहि राज।
यहि तें जानहु 'मोर हित' कै 'आपन बड़ काज'?

(मानस)

श्री वाल्मीकिजी के लेखानुसार राजकुमार भरत के हृदय में, कैकेयी के दुष्कृत्य पर क्रोध और अकारण श्री राम-वनवास हो जाने पर शोक तथा अनुताप अपनी प्रबलता दिखलाते हैं। राज्य ग्रहण करने के विरोध में जो बात भरत को विशेष रूप से खटकती दिखाई पड़ती है वह है इक्ष्वाकु-कुल की 'ज्येष्ठ श्रेष्ठ' की परम्परा। राज्य स्वीकार कर लेने से वह मान्य परम्परा नष्ट हो जावेगी, इस बात का स्पष्ट उल्लेख भरतजी ने किया है—

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः॥

राज्य ग्रहण करने से महापाप होगा, कुलक्षय हो जावेगा, गृहकलह का सूत्रपात होगा, कौशल्यादि माताओं का जीवन कष्ट-प्रद होगा, राजविग्रह मच जावेगा, आदि। इसी कारण उत्तेजित लोकमत के विपक्षी भाव को शुद्ध और शान्त करने के निमित्त, भरतजी ने सब पंचों, साधुजनों और मंत्रियों को साथ लेकर वन में ही श्री रामजी को मनाना, अपनी माता का अपराध क्षमा कराना और अपने उज्ज्वल चित्त की साक्षी देकर, जैसे बने वैसे, श्री रामजी को अयोध्या वापिस लाना उचित समझा। उन्होंने स्वयं अपने लिए, राज्य के लिए, कुल-कीर्ति और समाज के सन्तोष तथा उत्थान के लिए यही मार्ग श्रेयस्कर माना।

आदि-कवि और गोस्वामीजी के दृष्टिकोण में अन्तर है। श्री तुलसीदासजी के मतानुसार भरतजी, श्री रामचन्द्रजी के छोटे भाई ही न थे अपितु उनके भक्त भी थे। राज-पाट से भरत को कोई मोह न था। उसकी ओर उनका लक्ष्य ही न था। उनकी हार्दिक इच्छा थी सच्चे राम-सेवक बनने की। वे उपासक थे श्री राम-चरणों के और उस उपासना में जिस कारण-विशेष से विग्रह पड़ा, उसका पूर्ण प्रायश्चित्त जब तक न हो जावे तब तक उनके व्यग्र चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती थी। इसी कारण गुरु वशिष्ठ के उपदेश रूपी प्रस्ताव पर भरतजी ने सहसा प्रश्न कर दिया कि राज्य ग्रहण करने का प्रोत्साहन देकर वशिष्ठजी स्वतः अपना हित साधन करना चाहते हैं या कि जिसे उपदेश दे रहे हैं, उसका?

भरतजी का प्रश्न अनुचित न था। सच कहा जावे तो 'आपन वड़ काज' ऋषिमण्डल के प्रमुख ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का ही था जो ऋषिमंडल के उद्योग की पूर्ति के लिए उत्तरदायी थे। गुरु वशिष्ठ के अभीष्ट की सिद्धि भरत की राज्य-स्वीकृति पर अवलम्बित थी। यदि भरत किसी भी दशा में राज्य-संचालन का भार ग्रहण न करते तो सम्भवतः श्री रामजी या लक्ष्मणजी

या दोनों को अवश्यमेव अयोध्या वापिस आकर राज्य सँभालना पड़ता और रावण-मेघनाद-पराजय तथा लंका-विजय न हो पाती। राजनीति की भाषा में गुरुदेव भरत-भावना के सम्मुख उन्नत-मस्तक खड़े नहीं रह सके। यदि वे भरत को सीधे-सादे शब्दों में, श्री राम-जी की अनुपस्थिति में, राज्य-व्यवस्था सँभालने का आदेश देते और स्वयं जनता को शान्त कर देते कि भरत निर्दोष हैं, तो कदाचित् भरत भी अपने पूज्य गुरुदेव से 'यहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काज' सरीखा प्रश्न न करते। परन्तु चाहे परीक्षा के लिए हो अथवा अपनी शंका की निवृत्ति के लिए, जब महर्षि ने यह स्पष्ट निहोरा भरत को दिया—

है तुम कहँ सब भाँति भलाई

तब तो भरत ने वही निवेदनात्मक उत्तर दिया, जो उनके महान् चरित्र की शोभा है—

हित हमार सिय-पद-सेवकाई।
सो हर लीन मातु कुटिलाई॥
शोक, समाज, राज, केहि लेखे।
लखन राम-सिय-पद बिनु देखे॥
जाउँ राम पहँ आयसु देहू।
एकहि अंक मोर हित येहू॥
मोहि नृप करि आपन भल चहहू।
सो सनेह-जड़ता-वश कहहू॥

गुरु वशिष्ठ ने अपने मूल प्रस्ताव की भूमिका में जिन चार कारणों का उल्लेख किया था वे मुख्यत: हैं—

(१) आप पुत्र हैं महानीतिमान् धर्मप्राण महाराज दशरथ के, जिनकी कीर्ति सब लोकों में विख्यात है।

(२) आप भाई हैं श्री रामचन्द्रजी के, जो अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के हेतु वन को चले गये। उनके समान आप को भी पिता का निर्देश-पालन करना चाहिए और उनकी आत्मा को शान्ति देना चाहिए।

(३) मंत्रीवर्ग, प्रजा पंच और राजमाताओं की इच्छा है कि आप राज्य सँभालें।

(४) राज्य और प्रजा की रक्षा आपका धर्म है।

(५) पिता के दिये हुए राज्य को भोगना वेदविहित है। इस कारण आपकी हर प्रकार से भलाई है।

इस प्रवचन में 'ज्येष्ठ श्रेष्ठ' का उल्लेख नहीं, केवल राजनीति का पाठ है। इन सब तर्कों का उत्तर भरत ने बड़ी सरलता और विनम्रता से दिया, जिसका सारांश यह है—

महाराज दशरथ के पुत्र तो हम चारों भाई हैं, लेकिन श्री रामचन्द्र जी हैं कौशल्यानन्दन और वीर लक्ष्मण हैं सुमित्रानन्दन। रहा मैं अभागा, सो मैं हूँ—

> कैकेयी-सुत कुटिल-मति राम-विमुख गत-लाज।
> तुम चाहत सुख मोह-बस मो‌ह से अधम के राज॥

अन्याय की मूल कैकेयी के उदर से जिसका जन्म हुआ हो जो अन्याय से मिला हुआ राज्य स्वीकार कर अपनी कुल-मर्यादा त्याग, उसे ग्रहण करने को उद्यत हो, उसकी छत्रछाया में राज्य कितने दिन ठहरेगा? मैं महामान्य दशरथजी का अयोग्य पुत्र और श्री रामजी का अयोग्य अनुज हूँ। ब्रह्मा ने इस पवित्र वंश में मुझे नाहक पैदा किया। राज्य करने की न मुझमें योग्यता है, न गुण। राजा धर्मशील होना चाहिए। मैं तो पापी, अधर्मी, दुष्टबुद्धि हूँ। सभी अनर्थ मेरे ही कारण हुए। महाराज ने अपने प्राण देकर अपनी लाज रख ली। मैं तो ऐसा कठोर-हृदय हूँ कि

यह सब देखते-सुनते भी जीवित हूँ। रही मेरी भलाई की बात, सो आप सब उसके लिए चिन्तित न हों। मेरी माता कैकेयी ने मेरी हित-चिन्तना में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी। उसने—

लखन राम सिय कहँ बन दीन्हा।
पठय अमरपुर पति-हित कीन्हा॥
लीन्ह विधवपन अपयश आपू।
दीन्हेउ प्रजहि शोक सन्तापू॥
मोहि दीन्ह सुख सुयश सुराजू।
कीन्ह कैकयी सब कर काजू॥
येहि ते मोर काह अब नीका।
तेहि पर देन कहहु तुम टीका!

भरत की इस वचनावली में गाढ़ी टीस है, मूक क्रन्दन है। साथ ही साथ प्रजा और मंत्रीवर्ग को डाँट है। भरत समान धर्मवीर कब सहन कर सकते थे कि धर्मभूमि अयोध्या की प्रजा अन्याय और अधर्म को सहकर दब्बू बनी रहे। उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि 'इतना अनर्थ देखते हुए यदि आप सब मुझको राजा स्वीकार करते हो, तो आप सबको भी धिक्कार है!'

मोहि राज हठि देइहहु जबहीं,
रसा रसातल जाइहि तबहीं।

जो श्री रामजी सब संसार को प्राणों के समान प्रिय हैं, वे ही जब मुझे अप्रिय लगे, तब पाप और दुष्टता में मेरी बराबरी कौन कर सकता है? मेरी दशा असाध्य है—

ग्रह-गृहीत पुनि बात बस तापर बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुणी कहहु कवन उपचार?

माता कौशल्या का आग्रह मैं समझ सकता हूँ :—

राम-मातु सुठि सरल चित मोपर प्रेम बिसेखि।
कहहिं सुभाव-सनेह-वश मोरि दीनता देखि॥

परन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि महामान्य गुरुदेव भी 'मो कहँ तिलक साजि सब सोऊ'। तब निश्चय यही होता है कि—'भा विधि विमुख, विमुख सब कोऊ'।

किसी को दोष देना वृथा है। जब विधाता रूठता है तब सगे सुहृद भी विरोधी हो जाते हैं। मुझे तो केवल एक ही विश्वास और भरोसा है—

परिहरि राम-सीय जग माहीं।
कोऊ न कहहि मोर मत नाहीं॥

आप सबके हृदय सशंक हैं जिसके जी में जो आवे, कहे जाइए—

संशयशील प्रेम-बस अहहू।
सबै उचित सब जो कछु कहहू॥

मैं सब के संशय की निवृत्ति नहीं कर सकता। मुझे इसका भी भय नहीं कि संसार क्या कहता है। लोकलज्जा भी मुझे नहीं। परलोक की भी चिन्ता नहीं। मेरे हृदय में तो एक प्रचण्ड आग जल रही है—

मोलगि भे सिय राम दुखारी।

वह ज्वाला श्री रामजी के चरणों के दर्शन बिना शान्त नहीं हो सकती। श्री रामजी मेरे मन की गति जानते हैं, दूसरा कोई नहीं। इसलिए—

एक हि आँक इहै मन माहीं।
प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥

तुम जो पंच मोर भल मानी।
आयसु आशिस देहु सुबानी॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी।
आवहिं बहुरि राम रजधानी॥

यद्यपि जन्म कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहैं मोहि रघुवीर भरोस॥

ये शब्द जले दिल के फूटते हुए फफोलों का वह रस था जो बड़े बड़े संशयरूपी पाषाणों को पिघला सकता था। हुआ भी वैसा ही। भरत के ऐसे दीनतायुक्त, सनेह-सने और धर्मयुक्त वचन सुन कर सब सभासदों के चित्त उनकी ओर से पवित्र हो गये। सबने एक स्वर से भरत को निर्दोष करार दिया और प्रमाण दिया—

भरतहि कहहिं सराहि सराही—
राम-प्रेम-मूरत तनु आही।
तात भरत! अस काहे न कहहू।
प्राण समान राम-प्रिय अहहू॥
जो पामर आपनि जड़ताई।
तुमहिं लगाय मातु कुटिलाई॥
सो सठ कोटिक पुरुष समेता।
बसहि कलप सत नरक-निकेता॥

अबसि चलिय वन राम पहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
शोक-सिन्धु बूड़त सबहिं तुम अवलम्बन दीन्ह॥

गुरुदेव और अन्य ऋषिगण, राजमाताएँ, मंत्रिवर्ग तथा प्रजा-पंचों का मन तो शुद्ध हो गया परन्तु अभी तक भड़की हुई जनता तो शान्त न थी। इसकी कल्पना पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र ने 'साकेत-सन्त' में की है। जब भरत ने वन जाने की ठानी तब उनके सामने नगर और राज्य के प्रबन्ध की समस्या उठ खड़ी

हुई। राज्य श्री रामचन्द्रजी का था। उनकी अनुपस्थिति में व्यवस्था में कोई त्रुटि न आने पावे तथा कोई दूसरा राजा या विद्रोही आक्रमण न कर दे, इस कारण उसकी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर फिर वन की ओर पग बढ़ाने का भरत ने निश्चय किया। जनता में एक पक्ष वह भी था जिसे इन प्रबन्ध-कार्यों में भी कूटनीति की दुर्गन्ध आती थी।

"एक बोला 'कल उधर प्रस्थान है'।
दूसरा बोला 'इधर भी ध्यान है'॥
सज रहा वन-गमन हेतु समाज भी,
नगर-रक्षा के सजे हैं, साज भी।
तीसरा बोला कि 'नागरता कहाँ?'
'शब्द में यदि भाव खिल जायें यहाँ'।
'जो विचारों को छिपा सकती नहीं,
नय-निपुण व्यवहार्य वह भाषा कहीं?"

... ...

प्रश्न था उनका 'प्रबन्ध अपार क्यों?
त्याग है तो फिर रुचा संसार क्यों?

... ...

जान पड़ता है कि मद भूपत्व का,
आ गया है रंग ले अमरत्व का।
राह के कंटक हटाने जा रहे,
देव अपने को बनाने जा रहे।

... ...

'राम का यदि बाल भी बाँका हुआ,
जान लो कर्तव्य-पथ आँका हुआ।

मार कर चाहे न लें बदला कहीं,
मर मिटेंगे न्याय पर हम सब वहीं।

... ...

'राज्य वे चाहे यहाँ सुख से करें,
पर न जा वन में अनर्थ हरे! करें।
साथ हम होंगे; अनर्थ कहीं हुआ,
तो समझ लो सब अनर्थ वहीं हुआ।'

... ...

भरत निकले थे व्यवस्था देखने,
नगर-रक्षा की अवस्था देखने।
सकपका-सा दल विलोका राह पर,
सारथी ने यान रोका, राह पर।
भरत ने देखा, उन्होंने प्रणति की,
अटपटी-सी भावना मुख पर टिकी।
कह उठे सहसा कि 'देव रहें यहाँ,
हम सबों को छोड़ जावेंगे कहाँ?

... ...

इस नगर की विभव-आभा से ठगी,
अन्य भूपों की कुदृष्टि इधर लगी।
आप ही यदि छोड़ जायेंगे हमें,
कौन फिर उनसे बचायेंगे हमें।'

... ...

उक्ति का सब तत्त्व मानस में गहा,
धीर-धुरधारी भरत ने तब कहा—
'बन्धुओ! नृप राम निश्चय आप ही,
है उन्हीं की वह तथा यह भी मही।

... ...

जा रहा हूँ तीव्र उर का भार ले,
जा रहा हूँ कसक का संसार ले।
दीन-दुखिया के सहारे राम हैं,
इस अधम के प्राणप्यारे राम हैं।
किन्तु यह धन-धाम, उनकी सम्पदा,
आ न पाये इस धरा पर आपदा।
प्रार्थना है आप सब सहयोग दें,
काम ऊँचा हो उठे वह योग दें।'
नगर-रक्षक ध्यान से था सुन रहा,
शब्द के शुचि अर्थ मन में गुन रहा।
हो उठा गद्गद कहा "प्रभु धन्य हो,
पथ-प्रदर्शक कौन तुम-सा अन्य हो।

... ...

जाइए प्रभु, आप सुख से जाइए,
इस अयोध्या में उन्हें फिर लाइए।"

... ...

इस प्रकार विषाक्त वायुमण्डल को शुद्ध कर भरत और शत्रुघ्न वन-यात्रा की तैयारी में लगे।

नवाँ प्रकरण

तीर्थ-यात्रा

प्रथम तीर्थ—'रामघाट'

नागर नरों की सो अनी कनी बनी ठनी सी,
आकुल बनी थी आज बन बन जाने को।
उद्यत हुई थी दुख-सागर-निमग्न भीड़,
सुख - सर - सरस सरोज खोज पाने को॥
उषा चली सूर्य-कुल-गौरव की चाह भरी,
निशा चली मानो रामचन्द्र के मनाने को।
सेन ओज-सानी नेह-देह सी चली थी आज,
देह-सी चली थी आज प्राण फेर लाने को॥

(सा० सं)

चलत पयादे खात फल पिता दीन्ह तज राज।
जात मनावन रघुपतिहि भरत-सरिस को आज? (मानस)

पितृ-शोक, भ्रातृ-बिछोह, मातृ-कौटिल्य, लोक-संशय आदि से उत्पीड़ित, भग्न-चित्त भरत ने अपने ज्येष्ठ बन्धु श्री रामचन्द्रजी को वन से लौटाने के निमित्त अयोध्या से प्रस्थान किया। साथ में शत्रुघ्न थे, सब माताएँ थीं, राजवधुएँ थीं, सुमंत्र और मुनिमंडली समेत गुरु वशिष्ठ थे। पुरजन थे, परिजन थे, सेना भी थी। यद्यपि भरत के भ्रातृ-स्नेह की प्रशंसा सब करते थे, सबके चित्त उनकी ओर से निर्विकार हो गये थे परन्तु भरत की मानसिक स्थिति का ज्ञान किसी को न था।

इतनी बड़ी भीड़ और विशेषकर हाथी-घोड़े, सेनानी तथा लवाजमे को देखकर दर्शकों को उनके सम्बन्ध में भाँति भाँति के विकल्प करने का अवसर मिला। शंका होना स्वाभाविक था, विशेषकर उनको जिन्होंने भरत की भावनाएँ सुनीं या जानी न थीं। यदि भरत के मन का निरीक्षण किया जावे तो उसमें चार व्यग्रताएँ उत्पीड़ित दृष्टि आती हैं—(१) श्री रामजी के अभिषेक का न होना, (२) श्री राम-सीता और लक्ष्मण का वन में चले जाना, (३) उन्हें हर प्रकार से मनाने का उद्योग करना और अपनी निष्कलंकता प्रमाणित करना तथा (४) अपने राज्याधिकार को त्याग श्री रामजी को पुनः अयोध्या लाना। भरतजी वन में ही श्री रामजी का अभिषेक करना चाहते थे। उसके लिए जितनी सामग्री एकत्रित की गई थी उसे वे अपने साथ वन में लेते गये—

"मैं वन में जाकर भाई को लिवा लाऊँगा। अभिषेक-सामग्री साथ ले जाकर वहीं उनका अभिषेक करूँगा। श्री राम को फिर उसी तरह यहाँ लाऊँगा जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है।" (वाल०)

इस सामग्री को ढोने के लिए अनेक भारवाही आवश्यक थे। बिना मुनिमण्डली और विप्रसमाज के अभिषेक सम्पन्न नहीं हो सकता था। अभिषेक के समय मुख्य प्रजाजनों की उपस्थिति वांछनीय थी। राज्याभिषेक के अवसर पर सेनापति, सेना के मुख्य-मुख्य अधिकारी, विशेष सैनिक आदि तथा राजकर्मचारियों का होना अनिवार्य था। जब तक अभिषिक्त राजा को प्रजावर्ग, कर्मचारी, सैन्यदल तथा सेनाध्यक्ष अपना संरक्षक स्वीकार न करें तब तक अभिषेक का कोई अर्थ या मूल्य नहीं। इन सब कारणों से भरतजी को अपने साथ इतना बड़ा समुदाय ले जाना पड़ा। प्रजावर्ग को भी श्री रामजी का विछोह असह्य हो रहा था। उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाना उचित समझा और वे दर्शकों की श्रेणी

में हो गये। भरतजी ने यह भी कदाचित् सोचा हो कि यदि वे अकेले या केवल शत्रुघ्न को साथ लेकर वन में गये और सत्यप्रतिज्ञ रामजी अपने प्रण से न टले, मनाने पर भी वापिस न लौटे तो प्रजावर्ग को फिर भी शंका बनी रहेगी कि न मालूम गये ही हों किंवा नहीं अथवा श्री रामजी को लौटाने का उद्योग किया भी हो या नहीं। इस कारण भरतजी ने साथ चलने से किसी को रोका नहीं, वरन् यही चाहा कि सभी विज्ञजन उनके निष्कपट प्रयत्न के साक्षी रहें।

यात्रा लम्बी थी। संगी-साथी बहुधा पालकी, सुखासन, रथ, हाथी-घोड़ों पर सवार थे; परन्तु भरत-शत्रुघ्न पैदल ही चल रहे थे।

वन सिय राम समुझि मन माहीं।
सानुज भरत पयादेहि जाहीं॥
देखि सनेह लोग अनुरागे।
उतरि चले हय गज रथ त्यागे॥

(मानस)

जब माता कौशल्या ने यह दृश्य देखा तब उन्होंने भरतजी से अनुरोध किया कि वे पैदल न चलें। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर दोनों भाई रथ पर सवार हो गये। चार दिन यात्रा कर मार्ग में फल-मूल आहार करते हुए, सब समाज सहित, वे श्रृंगवेरपुर पहुँचे और गंगाजी के उस घाट पर, जिसका नाम 'रामघाट' पड़ गया था, डेरा डाला।

उस काल में श्रृंगवेरपुर जंगली स्थान था। वहाँ निषादराज गुह की सत्ता थी। वन-यात्रा में यह निषादराज श्री रामजी का पहला सखा था, जिसने उनकी भरपूर सेवा की थी और जो उनका कृपापात्र बन गया था। गुह को जब यह समाचार मिला कि भरतजी

बहुत बड़ी सेना लेकर गंगाजी के किनारे टिके हैं तब वह चिन्तित हुआ। उसने अपनी जातिवालों से कहा—

"या तो भरतजी मुझे गिरफ्तार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए असहाय दुर्बल श्री रामजी का वध करेंगे। परम दुर्लभ राजश्री को भली भाँति अपने अधिकार में कर लेने के विचार से, कैकेयी के पुत्र भरत कहीं श्री रामचन्द्रजी को मार डालने के लिए तो नहीं जा रहे !"

(वाल०)

कारण कवन भरत बन जाहीं ?
है कछु कपट भाव मन माहीं ॥
जो पै जिय न होति कुटिलाई।
तो कस लीन्ह संग कटकाई ?
जानहिं सानुज रामहिं मारी।
करौं अकंटक राज सुखारी ॥
भरत न राजनीति उर आनी।
तब कलंक, अब जीवन-हानी ॥

(मानस)

भोले-भाले निषादराज के चित्त में ऐसे भाव उदित होना स्वाभाविक था। ज्योंही उसने विचारा कि आखिर भरत हैं तो पुत्र उसी विषमूल रानी कैकेयी के जिसने श्री राम को वनवास कराया है, उसे विश्वास सा हो गया कि भरतजी अपने ज्येष्ठ बंधु को निस्सहाय समझ उन्हें रास्ते के काँटे के समान दूर कर देना चाहते हैं। गुह का सत्य-सखाभिमान, सहज स्वाभिमान और निश्छल सेवकाभिमान जाग्रत हो उठा और उसने श्री रामजी तथा भरतजी के बीचोंबीच अपने आपको सजाति-सहित बलिदान कर देने का अजेय संकल्प कर लिया। उसने सरोष अपने बंधु-बान्धवों और सैन्य-दल को

सूचित किया कि वे सब लोग शस्त्र धारण कर, कवच पहन कर, गंगा के कछार में तैयार रहें।

अस विचार गुह जाति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरणि कीजिय घाटा रोहु॥

सन्मुख लोह भरत सन लेहू।
जियत न सुरसरि उतरन देहू॥
समर मरण पुनि सुरसरि तीरा।
राम काज क्षणभंगु शरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू।
बड़े भाग्य अस पाइय मीचू॥ (मानस)

उत्साह और हर्ष के साथ, भिल्ल जाति के लोग अपने नेता की आज्ञा पाकर भरतजी से युद्ध करने को तैयार होने लगे। मन में संकल्पों-विकल्पों की तरंगें उठाता, रामभक्तों में अपनी रेखा खींचता हुआ निषादराज गुह आगे बढ़ा और सैनिकों को आज्ञा दी कि वे जुझाऊ ढोल (युद्ध का बाजा) बजावें ताकि भरतजी सचेत हो जावें। एक वयोवृद्ध भील ने, यह सब देखकर, सलाह दी कि भरतजी के आशय की पहले परीक्षा कर ली जाय तब युद्ध ठाना जावे; क्योंकि बिना विचारे कार्य करने से अन्त में पछताना पड़ता है। निदान गुह अपने सैन्य को वैसा आदेश दे, नाना प्रकार की भेंट लेकर, भरतजी से मिलने को चला। उसको आते देख नीतिवान सुमंत्र ने भरतजी से कहा—

'यह वृद्ध गुह यहाँ का राजा है। इसकी जाति के लोग हजारों की संख्या में हैं। यह दंडकारण्य का रत्ती रत्ती हाल जानता है और आपके भाई श्री रामचन्द्रजी का मित्र है'।

यह सुन भरतजी ने तुरन्त आज्ञा दी कि गुह उनके सम्मुख आवे। वह उपस्थित हुआ, भेंट अर्पित की और उसने अपनी

राज्य-भक्ति प्रकाशित कर त्रुटियों की क्षमा-याचना की। भरतजी ने सम्बोधन कर उसका आदर किया और पूछा—

'निषादराज! यह बतलाओ कि हम किस मार्ग से भरद्वाज-आश्रम को जावें। गंगा का यह जल-प्रदेश बड़ा दुर्गम है।'

(वाल०)

गुह बोला—

"हे महायशस्वी राजकुमार, आप इसकी चिन्ता न करें। इस प्रान्त का हाल जाननेवाले धनुष-बाण लेकर आपके साथ चलेंगे। मैं स्वयं चलूँगा। परन्तु आपकी इस विशाल सेना को देखकर मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हो गया है कि आप अक्लिष्टकर्मा श्री रामजी के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे?"

(वाल०)

निषादराज के ऐसे स्पष्ट वचन सुनकर भरतजी न तो उससे अप्रसन्न हुए और न उन्होंने कड़क कर उत्तर दिया। किन्तु दुःखित होकर बोले—

हे गुह! वह बुरा समय न आवे जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो। मेरे सम्बन्ध में ऐसा अनुचित सन्देह करना ठीक नहीं। मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री रामजी को पिता तुल्य समझता हूँ और उन वनवासी रामजी को लौटाने के लिए जा रहा हूँ। तुम अन्यथा न समझो। मैं तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ। (वाल०)

आकाश की भाँति निर्मल स्वभाववाले सौम्य भरत के ऐसे सुमधुर वचन सुनकर गुह की सन्देहाग्नि शीतल पड़ गई और सहसा उसके मुख से निकला—

धन्य! हे भरत आप धन्य हैं! इस धराधाम पर आपके समान दूसरा कोई मुझे दृष्टि नहीं आता। बिना प्रयत्न हाथ लगे हुए राज्य को आप त्याग रहे हैं। निश्चय ही आपकी कीर्ति सदा इस

लोक में बनी रहेगी, जब कि आप कष्ट पाते हुए श्री रामजी को वन से लौटाना चाहते हैं। (वाल०)

भरत की उस दशा का वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी ने बड़ी हृदय-द्रावक भाषा में किया है—

जैसे वनाग्नि से सूखे हुए पेड़ को उसके खोड़र की अग्नि दग्ध करती है, उसी प्रकार भरत को भीतर ही भीतर वह शोकाग्नि झुलसा रही थी। शोकाग्नि से उत्पन्न स्वेद सारे शरीर से इस तरह निकल रहा था मानों सूर्य की गर्मी से पिघलकर हिमालय से बर्फ का जल झरता हो। श्री रामचन्द्रजी का उत्सुकतापूर्वक ध्यान ही भरत के उस शोकरूपी पर्वत की छिद्र-रहित शिलाएँ हैं। बारम्बार लिये हुए दीर्घ निःश्वास गेरू आदि की धाराएँ हैं, दीनता वृक्षों का समूह है और शोकोत्पन्न मन की थकावट उस मेरु-पर्वत की चोटियाँ हैं। अत्यन्त मोह ही अनेक बनैले जीव-जन्तु हैं तथा सन्ताप उस पर्वत की ओषधियाँ हैं। ऐसे दुखरूपी पर्वत के नीचे कैकेयीनन्दन भरत दब गये।

अध्यात्म रामायण में भी इस सम्मिलन का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है—

भरतजी अनुज शत्रुघ्न समेत मंत्रियों के बीच बैठे हैं। राज्यभूषा की जगह चीर धारण किये हैं और मस्तक पर किरीट-मुकुट के स्थान पर जटा विराजमान हैं। बारम्बार 'हा राम' की शोकध्वनि कर रहे हैं। गुह ने पृथ्वी पर मस्तक झुका अपना नाम बतलाया। सुनते ही भरतजी ने सादर उसे गाढ़ आलिंगन में भर लिया।

अन्तस्तल के विचार बहुधा शरीर के धरातल पर अपनी छाया प्रकाशित कर देते हैं। कुटिलता और कूटनीतिज्ञता के आधुनिक युग में यह कभी कभी सम्भव न हो परन्तु "बैर प्रीति नहिं दुरहि दुराये"। ज्यों ही गुह ने भरतजी के स्वरूप को देखा और पाया कि दीर्घ निश्वासों के साथ "राम, राम" की शोकध्वनि

उनके मुख से ही नहीं किन्तु हृदय के कोने कोने से हो रही है, त्यों ही उसकी सारी शंकाएँ विलीन हो गईं। वह आया था यह धारणा लेकर कि भरतजी शत्रुरूप से आये हैं और पाया बिलकुल विपरीत भाव। ऐसी अवस्था में मौनावलम्ब ही सहारा देता है। बिना कुछ बोले-चाले भरत और गुह दोनों के वक्ष एक दूसरे से मिल गये। न कुछ पूछने को शेष रहा, न उत्तर पाने को। निर्मलता निर्मलता से मिल गई।

वह ग्लानि भरा, ये प्रेम भरे।
उस छवि का वर्णन कौन करे?
वह खिसका जाता था उर से,
ये जकड़ रहे थे आतुर-से।
नयनों से जल-धार बही,
वे बूँद पा हुई धन्य मही। (सा० सं)

भक्त तुलसीदासजी ने इन दोनों राम-भक्तों का सम्मिलन भक्तों की प्रीति-रीति के अनुसार कराया है। भरत जी गुह का तो नाम ही न जानते थे फिर पहचानने की तो बात ही क्या थी। गुह महर्षि वशिष्ठ को जानता और पहचानता था और वे भी उसे जानते थे। जब गुह ने देखा कि एक ही रथ पर वशिष्ठजी और भरतजी बैठे आ रहे हैं, तब—

देखि दूरि तें कहि निज नामू।
कीन्ह मुनीशहिं दंड-प्रणामू॥
जानि राम-प्रिय दीन्ह असीसा।
भरतहिं कहेउ बुझाय मुनीसा॥

ज्यों ही महर्षि वशिष्ठ ने भरत का ध्यान गुह की ओर आकर्षित किया और कहा कि वह रामजी का प्रिय सखा है, त्यों ही आकुल भरत—

रामसखा सुनि स्यन्दन त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥
करत दंडवत देख तेहि भरत लीन्ह उर लाय।
मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदय समाय॥

'रामसखा है' यह शब्द सुनते ही और यह विचार कर कि रामभक्तों में जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेद नहीं होता, गुह के मानस-पटल पर राममूर्ति अंकित देख भरत को और विशेष परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या थी? इस प्रेम से उसे गले लगाया मानो श्री राम के अनन्य सेवक भाग्यवान् लक्ष्मण मिल गये हों। प्रेमावेश में दोनों आत्म-स्मृति खो बैठे। दर्शक मुग्ध और स्तब्ध हो गये। दूसरों की समझ में न आनेवाली मूक भाषा में गुह की शङ्का का समाधान हो गया। धन्य-धन्य की ध्वनि गूँज उठी। जब प्रेमालिङ्गन की बाढ़ कम हुई, और भरतजी सचेत हुए तब—

पूछहिं कुशल सुमङ्गल क्षेमा।

भरतजी का शील और स्नेह देखकर—

भा निषाद तेहि समय विदेहू॥
सकुच सनेह मोद मन बाढ़ा।
भरतहिं चितवत इकटक ठाढ़ा॥
धरि धीरज पद बन्दि बहोरी।
विनय सप्रेम करत कर जोरी॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे।
सहित कोटि कुल मङ्गल मोरे॥

निषादराज को भरतजी ने फिर गले लगाया। पश्चात् गुह ने शत्रुघ्नजी से भेंट की, राज-माताओं के चरणों में मस्तक नवाया

और उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर नगर-निवासियों से भेंट की। अपने सब सेवकों को बुलाकर गुह ने आगन्तुकों का यथाविधि डेरा कराया। भरतजी ने 'रामघाट' को प्रणाम किया। स्नान-ध्यान से निवृत्त हो, सबकी कुशल पूछ, शत्रुघ्नजी को माताओं और पुरवासियों का भार सौंप भरतजी ने गुह को बुलवाया और—

चले सखा कर सों कर जोरे।
शिथिल शरीर सनेह न थोरे॥
पूछत सखहिं सो ठाँव देखाऊ।
नेक नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥

गुह को साथ ले भरतजी उन स्थानों को देखते फिरे जहाँ 'वन-यात्रियों' ने रात्रि व्यतीत की थी। शिंशुपा वृक्ष के नीचे 'तृणशय्या' देखकर भरतजी को अत्यन्त विषाद हुआ। वृक्ष को प्रणाम कर कुश-साथरी की प्रदक्षिणा की और—

चरण-रेख-रज आँखिन लाई।
बनै न कहत प्रीति अधिकाई॥
कनक-बिन्दु दुइ चारक देखे।
राखे सीस सीय सम लेखे॥

नयनों और मस्तक की जलन तो कुछ शान्त हुई परन्तु भरत के हृदय की हिलोल बढ़ गई। उसमें ज्वार आने लगा। वे अपने आपको धिक्कारने लगे और अचेत हो गये। उनकी दशा देख पुरवासियों और माता कौशल्या को बड़ी चिन्ता हो गई। पुत्र-वत्सल एवं तपस्विनी कौशल्या ने भरत को अपने हृदय से लगाया और पूछने लगीं—

'बेटा! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी उठ खड़ी हुई है? देखो, अब इस राजकुल का जीवन-मरण तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है। लक्ष्मण को साथ ले श्री राम वन में चले गये हैं। अब तो मैं

तुम्हारा ही मुख देखकर जी रही हूँ। महाराज दशरथ के बाद अब तुम्हीं हम सब के एक-मात्र रक्षक हो। तुमने लक्ष्मण के बारे में अथवा श्री राम के बारे में कोई अप्रिय अथवा अमंगल समाचार तो नहीं सुना ?' (वाल०)

भरत जब दो घड़ी पश्चात् सचेत हुए तब उन्होंने प्रण किया—

'आज से मैं खाली जमीन पर अथवा कुश-साथरी पर सोऊँगा और जटा-चीर धारण करूँगा'। (वाल०)

भरत को अत्यन्त अधीर और विह्वल देखकर गुह ने सान्त्वना दी कि श्री रामजी का चित्त उनकी (भरत की) ओर से विशुद्ध है और विराम-रात्रि में श्री रामजी उनकी (भरत की) प्रशंसा करते रहे। गुह ने कहा—

बिधि वाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।
तेहि रात पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सराहन रावरी॥
तुलसी न तुम सो राम प्रीतम कहत हों सौहें किये।
परिणाम मङ्गल जान अपने आनिये धीरज हिये॥

भरत को यह प्रथम आश्वासन मिला कि श्री रामजी अप्रसन्न नहीं। यह कम सन्तोष की बात न थी।

द्वितीय तीर्थ—प्रयागराज

प्रातक्रिया करि मातु पद बन्दि गुरुहिं सिर नाय।
आगे किये निषाद गण दीन्हेउ कटक चलाय॥

भरतजी की कठोर-सेवक-वृत्ति और विकल अन्तःकरण में किञ्चित् कमी नहीं हुई। पैदल चल रहे थे। पैरों में जूते नहीं, सिर पर छत्र नहीं। नेत्र अश्रुपूर्ण थे। कहीं पैर रखते, कहीं पड़ता। सेवकगण सवारी लाते तो कहते—

राम पियादे पाँय सिधाये।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाये!
सिर भल जाउँ उचित अस मोरा।
सब ते सेवक धर्म कठोरा॥ (मानस)

ऊबड़ खाबड़ पथरीली भूमि पर चलते चलते कोमल चरणों में फफोले पड़ गये थे।

झलका झलकत पाँयन कैसे।
पंकज कोश ओस-कण जैसे॥

अतिशय प्रेम की उमंग में सीताराम सीताराम कहते प्रयागराज पहुँचे। वहाँ के निवासियों को समाचार मिला कि भरतजी आये हैं, साथ में सैन्य और समाज है। तीर्थराजवासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और संन्यासी उनके दर्शनों को लालायित हुए। क्षेत्र में पहुँचते ही भरतजी ने प्रथम त्रिवेणी में स्नान किया। त्रिपथगामिनी, पतितपावनी, शान्ति-प्रदायिनी गंगाजी और विशेषकर संगम के सितासित नीर में ज्यों ही गोता लगाया कि हृदय में बसी हुई श्याम-गौरांग मूर्तियों की छवि, उस निर्मल सलिल की वीचियों में, दृष्टिगोचर होने लगी। विनीत भाव से उन्होंने तीर्थराज से प्रार्थना की—

माँगौं भीख त्याग निज धरमू।
आरत काहि न करइ कुकरमू॥
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरवान।
जन्म जन्म रति राम पद यह बरदान न आन॥
(मानस)

ये उद्गार उस आर्त भक्त के थे जो आगे चलकर अनन्योपासना में विलीन होने जा रहा था। भरतजी अपना क्षत्रियोचित

धर्म त्याग कर भिक्षा माँगने पर उतारू हो गये। यह बात खटकने जैसी है। परन्तु भगवद्भक्तों में वर्ण-भेद नहीं होता, इस मार्ग में व्यावहारिक और सामाजिक धर्म का भी लोप हो जाता है। यहाँ भिक्षा वरदान के रूप में माँगी गई है। जो वर माँगा वह सकाम भावना से दूषित नहीं, इस कारण इस बात की अधिक व्याख्या निरर्थक है। भरतजी ने अपनी हार्दिक भावना व्यक्त की—

जानहिं राम कुटिल करि मोही।
लोग कहैं गुरु साहिब द्रोही॥
सीताराम चरण रति मोरे।
अनुदिन बढ़ै अनुग्रह तोरे॥

इस विनीत वाणी को सुन त्रिवेणी क्षेत्र से झंकार उठी—

तात भरत तुम सब विधि साधू।
राम चरण अनुराग अगाधू॥
वादि गलानि करहु मन माहीं।
तुम सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं॥

भरत को दूसरी बार आश्वासन मिला। तीर्थराज के इन प्रामाणिक वचनों से उनके क्लान्त घनाच्छादित मुखमण्डल पर पहले-पहल प्रसन्नता की हलकी-सी रेखा झलकी।

दसवाँ प्रकरण

श्री भरद्वाजजी की संरक्षकता

त्रिवेणी-स्नान के पश्चात् भरतजी मुनि भरद्वाजजी के आश्रम को गये। भरतजी के साथ गुरुदेव वशिष्ठ और अन्य ऋषिगण थे। तपोधन भरद्वाजजी ने उनको सादर आसन दिया और परस्पर अभिवादन तथा मंगल शिष्टाचार के उपरान्त प्रश्न किया--

'हे राजकुमार! तुम तो राज्य का शासन कर रहे थे, फिर यहाँ आने की क्या आवश्यकता पड़ी? सब बातें स्पष्ट करो, क्योंकि मुझे शंका होती है। कौशल्या के आनन्द बढ़ानेवाले, महायशस्वी जिन राम को स्त्री (कैकेयी) के कहने से महाराज दशरथ ने चौदह वर्ष का वनवास दिया, उन निर्दोष राजकुमार एवं उनके छोटे भाई लक्ष्मण के विषय में तुम कुछ अनभल तो नहीं करना चाहते कि जिससे तुम्हारा राज्य-भोग निष्कंटक हो जावे?' (वाल०)

ऋषि भरद्वाज का ऐसा तीक्ष्ण अभियोग सुनते ही भरतजी काँप उठे और सजल नयन अवरुद्ध कंठ से बोले--

"हा हतोस्मि! भगवन्! भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञाता होकर भी यदि आप ऐसा समझ रहे हैं तो मेरा जीवन वृथा है। इस उपस्थित विपत्ति से मेरा कोई लगाव नहीं। मुझे तो इसकी कल्पना ही न थी। अतएव आप ऐसे कटु वचन न कहें। मेरी माता ने जो कुछ महाराज से कहा, वह न तो मुझे इष्ट था, न मैं उससे संतुष्ट हूँ और न उनका कहना मुझे स्वीकार है। मैं तो उन पुरुष-सिंह को प्रसन्न कर अयोध्या में लौटा लाने तथा उन्हें प्रणाम करने जा रहा हूँ।' (वाल०)

भरतजी के इन वचनों से भी ऋषि भरद्वाजजी को पूर्ण सन्तोष न हुआ। परन्तु जब वशिष्ठादि ऋत्विजों ने भरत के मनोभावों की पुष्टि की, तब समाधान पाकर मुनि भरद्वाज बोले—

"हे नरशार्दूल! रघुकुल में तुम्हारा जन्म हुआ है इस कारण बड़ों की आज्ञा में चलना, इन्द्रिय-निग्रह और साधुजनों का अनुयायी होना, ये तीनों बातें तुममें होनी ही चाहिए। यद्यपि मैं तुम्हारा मनोगत भाव योग-द्वारा जानता था तथापि उसे सब लोगों के सामने प्रकट कराने का उद्देश यह था कि वह सुदृढ़ हो जावे और तुम्हारी कीर्ति दिगन्तव्यापी हो। इसी अभिप्राय से मैंने वैसा प्रश्न किया था।" (वाल०)

'और करे अपराध कोउ और पाय फल-भोग'।

संसार में अपराधी दण्डित होते ही हैं परन्तु कभी-कभी निरपराधी भी दण्ड पा जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि ही कितनी? उसी पर न्याय विचार अवलम्बित है। किसी यथार्थ निर्दोषी व्यक्ति को जब दण्ड हो जाता है तो न्याय एक परिहास हो जाता और न्यायाधीश जनता की दृष्टि में अपने उच्चपद से गिर जाता है। यह तो हुई साधारण जनों की बात; किन्तु जब भरत समान निर्मल-चरित्र निरपराधी को त्रिकालज्ञ भरद्वाज समान योगिराज गुप्त षड्यंत्री या भाई के घात के इच्छुक समझने लगें तब तो वह अभियोग बहुत खटकने लगता है। उनके तीक्ष्ण, तिक्त और विषाक्त अभियोग को अपने कानों सुन भरत का 'हा हतोस्मि' कहना ठीक ही था। गुह की इसी प्रकार की धारणा क्षम्य है। एक तो वह अपढ़ था, दूसरे था भीलों का राजा। उसका प्रश्न राजनीति से सम्बन्धित था। उसने कहा भी था 'भरत न राजनीति उर आनी'; किन्तु ऋषिप्रवर भरद्वाजजी का वैसा ही प्रश्न भरत के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। वह आक्षेप न तो युक्तिसंगत ही

माना जा सकता है और न नीतिसंगत ही। यद्यपि भरद्वाजजी ने भरत का उत्तर सुनकर तथा गुरुदेव का समाधान पाकर उस अभियोग का निराकरण किया, और उसका कारण भी प्रकाशित किया, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनका स्पष्टीकरण हृदय में घाव करके फिर मल्हम-पट्टी करने सरीखा था।

भरत ने ऋषि भरद्वाज से श्री रामजी का पता पूछा। ऋषिवर ने उन्हें ठिकाना बतलाया तथा आग्रह किया कि उस रात्रि वे ससैन्य, ससमाज उनका आतिथ्य स्वीकार करें। भरतजी ने बहुत आनाकानी की परन्तु ऋषिवर्य की आज्ञा को न टाल सके। दूसरे दिन प्रातःकाल जब महर्षि आश्रम से बाहर आये तब भरतजी ने उन्हें करबद्ध नमन किया और बिदा माँगी। इसी समय सब राजमाताएँ वहाँ उपस्थित हो गईं। उनका परिचय कराते हुए भरतजी ने अपनी माता कैकेयी का उल्लेख किया—

'हे मुनिराज! जिसकी करतूत से उन दोनों पुरुषसिंह (श्रीराम-लक्ष्मण) का जीवन संकट में पड़ा हुआ है तथा महाराज दशरथ पुत्रजनित वियोग के कारण स्वर्गवासी हुए हैं, वह यही क्रोधयुक्त स्वभाववाली, बुद्धिहीन, ऐश्वर्य प्राप्ति की चाह रखनेवाली, असती होकर भी अपने को सती समझनेवाली, निष्ठुरा और पापिन कैकेयी है। इसको आप मेरी माता समझिए।' (वाल०)

यह सुन मुनि भरद्वाजजी भरतजी से अर्थयुक्त वचन बोले—

'हे भरत, तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी का यह वनवास आगे चलकर सुखदायक होगा। इससे देव, दानव और बड़े-बड़े महर्षियों की भलाई होगी।' (वाल०)

इस अन्तिम वाक्य से स्पष्ट भासित होता है कि मुनि भरद्वाज ऋषिमंडल के अन्तरंग अभिप्राय और उद्योग को जानते थे और जो आयोजन उन्होंने दक्षिण-विजय के हेतु रचा था, उससे पहले

से ही परिचित थे। कदाचित् इसी कारण भरतजी के दलबल समेत उसी मार्ग पर जाने से वे चिन्तित हो गये हों कि भरतजी पूर्वगामियों का अनिष्ट करने की इच्छा से उस ओर न जा रहे हों और अपना भ्रम निवारण करने के हेतु भरद्वाजजी ने उनसे वह प्रश्न किया हो जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग बहुत संक्षिप्त है। उसमें भी श्री भरद्वाजजी द्वारा किया गया प्रश्न वर्णित है परन्तु उसमें विष की अनी नहीं। महर्षि ने कहा—

'हे भरत, तुम तो राज्य का पालन करते हो। तुमने जटा-वल्कलादि कैसे धारण किये और मुनिसेवित वन में किस कारण आये हो?'

दुख में डूबे भरत ने उत्तर दिया—'भगवन्! आप प्राणियों के अन्त: की जानते हो, तथापि आपने जो प्रश्न किया वह मेरे ऊपर अनुग्रह ही है। कैकेयी ने जो श्री रामजी के राज्य में बाधा डालने या उनको वनवास दिलाने का कार्य किया उसको मैं कुछ भी नहीं जानता। हे मुनिश्रेष्ठ! आपके चरण-युगल ही इस विषय में मेरे प्रमाण हैं। हे देव, मेरा दोषी या निर्दोषी होना आप ही स्थिर कीजिए।'

इस प्रसंग को सन्त तुलसीदास ने परिमार्जित करके अतीव सौन्दर्य-विभूषित बना दिया है। भरत जैसे महात्मा साधु के साथ त्रिकालज्ञ तपस्वी ऋषिराज का जो व्यवहार होना चाहिए वही आदर्श गोस्वामीजी ने उपस्थित किया है। प्रारम्भ से ही ऋषिवर्य भरद्वाज निर्दोष भरत के साथ बड़ी हार्दिक समवेदना प्रकाशित करते हैं और अन्त में साधु भरत को वह प्रमाण-पत्र देते हैं जिससे सदाचार सर्वदा के लिए निहाल हो जाता है।

ज्यों ही आश्रम में प्रविष्ट होकर भरतजी ने मुनि भरद्वाज को देखा और साष्टांग प्रणाम किया, त्यों ही ऋषिराज ने दौड़कर

उनको उठा लिया और हृदय से लगाकर अपना अहोभाग्य माना तथा आशीर्वाद दे उन्हें कृतार्थ किया। बैठने को आसन दिया, उस पर भरतजी नतमस्तक ऐसे बैठ गये मानों संकोच के घर में ही भाग कर जा छिपे हों। संकोच इस बात का था कि यदि मुनिराज प्रश्न करेंगे तो उसका उत्तर क्या और किस मुँह से दिया जायगा। उनके मनोगत भाव, शील एवं संकोच को देख त्रिकालज्ञ भरद्वाजजी स्वयं बोले—

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई।
विधि-करतब पर कछु न बसाई॥
तुम गलानि जिय जनि करहु समुझि मात-करतूति।
तात कैकयी दोष नहिं गई गिरा मति धूति॥
... ...
राम गमन बन अनरथ मूला।
जो सुनि सकल विश्व भइ शूला॥
... ...
तहउँ तुम्हार अलप अपराधू।
कहै सो अधम अयान असाधू॥
करतेहु राज, तुमहिं नहिं दोषू।
रामहिं होत सुनत संतोषू॥
अब अति कीन्हेउ भरत भल तुमहिं उचित मत एहु।
सकल सुमंगल-मूल जग रघुबर-चरण-सनेहु॥

ये उद्गार एक तपस्वी के हृदय की शोभा हैं। ऋषि भरद्वाज ने अति स्नेह और करुणापूर्ण दृष्टि से भरतजी की ओर देखा और उनके दग्ध हृदय को शान्त करने की चेष्टा की, आन्तरिक भाव से उनकी सराहना की और उनके कार्य को समयोचित, न्यायोचित तथा धर्मोचित बतलाते हुए कहा—'भूरि भाग्य को तुमहिं समाना।'

महर्षि ने यह भी प्रकट कर दिया कि, बिना प्रयास पाये हुए राज्य को त्याग कर अपने ज्येष्ठ बंधु श्री रामजी को वन से लौटाने और सारी राज्य-श्री पुनः उनके चरणों में अर्पित करने का आश्चर्यजनक साहस सिवाय भरत के और कोई न कर सकता था। कारण वे इक्ष्वाकुवंशी हैं—

यह तुम्हार अचरज नहिं ताता।
दशरथ सुवन राम लघु भ्राता॥

ये अन्तिम शब्द महर्षि वशिष्ठ ने भरत से उस समय कहे थे जब वे उन्हें राज्य ग्रहण करने की प्रेरणा कर रहे थे। वही शब्द महर्षि भरद्वाज भरत को उस समय कह रहे थे जब वे उनके त्याग की प्रशंसा कर रहे थे। दोनों महर्षियों के दृष्टिकोण का अन्तर कितना स्पष्ट है। श्री भरद्वाजजी के इतने सन्तोषप्रद वचनों से भी भरत की कान्ति-कुमुदिनी प्रस्फुटित नहीं हुई तब उनके मन की गति जानकर महर्षि बोले—

सुनहु भरत रघुपति मन माहीं।
प्रेमपात्र तुम सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीती।
निशि सब तुमहिं सराहत बीती॥
जाना मरम नहात प्रयागा।
मगन होंहिं तुम्हरे अनुरागा॥
तुम पर अस सनेह रघुवर के।
सुख जीवन जग यश जड़ नर के॥

इन अमृतरूपी वचनों को सुनकर और विशेषकर यह जानकर कि श्री रामचन्द्रजी के मन में उनके ऊपर प्रीति बनी हुई है, भरतजी को अवश्य सन्तोष हुआ। सन्तोष का सबसे प्रथम बीज-वपन निषादराज गुह ने किया था, पवित्र त्रिवेणी की मंजुल ध्वनि

ने जल-सिञ्चन कर उसे अंकुरित किया और महर्षि भरद्वाज के शुभ्र वचनरूपी समीर ने उसे पल्लवित कर दिया। भरत को संतुष्ट देख श्री भरद्वाजजी ने बड़े वज़नदार शब्दों में अपना शुद्ध हृदय खोल कर रख दिया—

तुम तो भरत मोर मत एहू।
धरे देह जनु राम-सनेहू॥

तुम कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेश।
राम-भक्ति-रस-सिद्धि हित भा यह समय गनेश॥

सत्य भी यही है। न भरतजी को यह मिथ्या कलंक लगता और न भायप भक्ति का ऐसा आदर्श चरित्र-चित्र विश्व को प्राप्त होता।

जब श्री रामचन्द्रजी इन्हीं ऋषिराज के आश्रम में आये थे तब उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर भरद्वाजजी ने कहा था—

आज सफल तप तीरथ यागू।
आज सफल जप जोग विरागू॥
सफल सकल शुभ साधन साजू।
राम तुमहिं अवलोकत आजू॥

यह सुनकर श्री रामजी ने उन्हें उत्तर दिया था—

सो बड़ सो सब गुण-गण-गेहू।
जेहि मुनीश तुम आदर देहू॥

श्री राम-प्रशंसित, तेजस्वी, तपस्वी, ऋषिपुंगव भरद्वाजजी जब भरतजी की, उनके शील और चारित्र की ऐसी प्रशंसा करें कि राम-भक्तिरूपी रसायन की सिद्धि के लिए वे प्रथमतः पूजनीय हैं, तब भरत 'भूरि भाग्य' नहीं तो और क्या कहे जा सकते हैं?

कदाचित् इस सराहना को संसारी पुरुष अतिशयोक्ति समझने लगें अथवा एक विरागी की अपने राजा के सम्मुख चाटुकारिता

मानने लगें या भरतजी ही कहीं ऐसी धारणा बना लें कि ऋषि अपना कुछ स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ऐसी ऊँची ऊँची बातें कह रहे हैं तो महर्षि ने उन शंकाओं का भी उच्छेद कर दिया—

सुनहु भरत, हम झूठ न कहहीं।
उदासीन, तापस, बन रहहीं॥

अर्थात् हे भरत, हम मिथ्या भाषण नहीं कर रहे हैं। हम उदासी (निःस्पृह) ऋषि हैं। किसी के राजा बन जाने या राजा से कंगाल हो जाने से हमें कोई प्रयोजन नहीं। हम किसी से भय-भीत होकर बात नहीं करते, क्योंकि कष्ट भोगने से हम डरते नहीं। तप से अधिक कष्ट शरीर को कोई हो नहीं सकता। वह कष्ट हम स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं। हम किसी के आश्रित नहीं। विगतेच्छा वनवासी हैं। किसी के दान या दया के ग्राहक नहीं। हम सत्य सत्य कह रहे हैं और जो सत्य हम स्पष्टरूपेण कहना चाहते हैं, वह यह है—

सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दरसन पावा॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।
सहित प्रयाग सुभाग्य हमारा॥

महर्षि भरद्वाजजी का यह प्रामाणिक आशीर्वाद पाकर भरतजी अनुरागपूरित हो गये और उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु झरने लगे। वे गद्गद गिरा में बोले—

मुनि समाज अरु तीरथराजू।
साँचेहु शपथहिं होय अकाजू॥
यहि थल जों कछु कहिय बनाई।
यहि सम नहिं कछु अघ अधमाई॥

तुम सरवज्ञ कहौं सति भाऊ।
उर अंतरयामी रघुराऊ॥
मोहि न मातु करतब कर सोचू।
नहिं दुख जिय जग जानहिं पोचू॥
नाहिन डर बिगरहि परलोकू।
पितहु मरे कर नाहिन शोकू॥

... ...

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं।
करि मुनि-वेश फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन-बसन फल-अशन महि शयन डासि कुशपात।
बसि तरु तर नित सहत दुख हिम तप बरसा बात॥
यह दुख दहै दाह नित छाती।
भूख न बासर नींद न राती॥

जैसी सत्य भावना मुनि भरद्वाज ने व्यक्त की थी वैसी ही सच्ची सच्ची बात भरतजी ने मुनिराज से कह दी। अपने आन्तरिक रोग का मूल कारण उन्होंने स्पष्ट कर दिया। उसे जानकर भरद्वाजजी ने उन्हें फिर संतोष दिया—

तात करहु जनि सोच बिसेखी।
सब दुख मिटहि राम-पद देखी॥

भरत को धैर्य मिला, आश्रय मिला। पश्चात् जब भरतजी जाने लगे तब महर्षि ने उन्हें रोक लिया और बाध्य किया कि वे ऋषि-आतिथ्य स्वीकार करें। भरतजी फिर संकोच में पड़ गये कि श्री रामजी वन में भूखे-प्यासे फिरें और वे आतिथ्य का उपभोग करें? अन्त में हाथ जोड़ कर बोले—

सिर धर आयसु करिय तुम्हारा।
परम धरम यह नाथ हमारा॥

मुनि भरद्वाज ने इस प्रकार का आतिथ्य श्री रामचन्द्रजी का नहीं किया था। वे वनवासी के रूप में आश्रम में आये थे। श्री रामजी से और राज्यश्री से सम्बन्ध विच्छेद हो गया था। इस कारण उनका सत्कार महर्षि ने वैसा ही किया था जैसा एक उदासीन तपस्वी दूसरे जटाधारी का करता है। भरतजी भी यद्यपि तपस्वी के वेष में आये थे परन्तु उनके साथ राजमाताएँ, कर्मचारी, सैन्यगण और श्री वशिष्ठादि ऋषि भी थे। जब तक अयोध्या राज्य का दूसरा अधीश्वर निश्चित नहीं हुआ था तब तक, दशरथजी के वचनानुसार, उस साम्राज्य के प्रतीक भरतजी ही थे। इस कारण महीपति का उचित सत्कार और आतिथ्य करना महर्षि भरद्वाज समान माण्डलिक महन्त ने आवश्यक समझा। कदाचित् यह भी कारण हो कि मुनिराज इक्ष्वाकुवंशी भरत की परीक्षा लेना चाहते हों कि कौशिक वंशी विश्वामित्र तथा सहस्रार्जुन की भाँति क्षत्रिय वीरों में वह 'कामधेनु-अपहरण' की इच्छा शेष तो नहीं? यह भी संभव है कि भक्त भरद्वाज यह देखना चाहते हों कि भरतजी ने शृंगवेरपुर में जो शपथ ली थी उसे पालन करने में वे समर्थ और सचेत हैं अथवा नहीं। जो भी हो, अपने आतिथ्य में महर्षि ने वह व्यवस्था जुटाई कि सब समाज उनके योग-बल के वैभव को देखकर चकित हो गया। केवल मात्र भरत उस भोग से निर्लिप्त रहे—

> सम्पति चकई भरत चक मुनि-आयसु खिलवार।
> तेहि निशि आश्रम पींजरा राखे भा भिनुसार॥

प्रातःकाल होते होते पूजनादि से निवृत्त हो भरतजी ने मुनिराज से श्री रामजी के पास जाने की आज्ञा माँगी तथा—

> पथगत कुसल साथ सब लीन्हें।
> चले चित्रकूटहिं चित दीन्हें॥

ग्यारहवाँ-प्रकरण

चित्रकूट के अंचल में

अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु।

... ...

भूमि बिलोक राम-पद-अंकित बन बिलोक रघुवर-बिहार-थलु।

... ...

न कर विलम्ब विचार चारु मति बरस पछिले सम अगिले पलु।

... ...

करिहैं राम भावतो मन को सुख-साधन अनयास महाफलु।

(वि० प०)

किये जाहिं छाया जलद सुखद बहत वर वात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात ।।

यहि बड़ि बात भरत की नाहीं।
सुमिरत राम जिनहिं मन माहीं ।। (मानस)

सत्य संकल्प के अटल व्रती, यम-नियमों का पालन करते हुए, शीश पर जटाजूट लपेटे, अनावृत शरीर, प्रेम-प्लावित भरत, स्वधर्म, समाज-धर्म एवं नीतिधर्म का छत्र धारण किये, कर्तव्य की उस कठोर भूमि पर (जो प्रखर परीक्षा के विपुल ताप से उत्तप्त हो रही थी) निषादराज गुह को साथ लिये आगे बढ़े। उनके शील, प्रेम और व्रत को देखकर सभी चकित हो जाते थे। मार्ग में श्री राम-लक्ष्मण और सीताजी की प्रिय वार्ता पूछते जाते और गुह उन्हें सुनाता जाता था। जहाँ कहीं श्री रामजी का विश्राम-स्थल

देखते, प्रेमोमङ्ग से विह्वल हो जाते। उनकी दशा देखकर जड़ और चेतन जगत् द्रवित हो उठता। 'हा! राम', 'हा! राम' कहकर जब वे लम्बी साँस लेते तब वज्र-हृदय भी पसीज उठता, माता कौशल्या काँप जातीं और पुरजन चिन्तित हो जाते। वे यमुना पार कर आगे बढ़े।

पथवासी जब उनके आगमन की चर्चा सुन पाते तब गृहस्थी का कार्य त्याग उनके दर्शनों को एकत्र हो जाते। जिन स्त्री-पुरुषों ने उसी मार्ग पर जाते हुए श्री राम-जानकी को देखा था, उनमें से बहुतेरे भरत, शत्रुघ्न दोनों भाइयों को देखकर प्रथम वन-यात्रियों के धोखे में पड़ जाते। परन्तु सीताजी का संग में न होना एवं आगन्तुकों का मलिन मन और खेदयुक्त मुखारविन्द तथा चतुरंगिनी सेना एवं समाज को साथ में देख शंका करने लगते। वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ उस सन्देह की निवृत्ति कर देतीं। भरतजी के दर्शन से नर-नारी अपने भाग्य की सराहना करते थे। अनेक आश्रम, तीर्थ-स्थान आदि परिभ्रमण करते, कोल-किरात तथा ऋषि-मुनियों का परिचय प्राप्त करते, उनसे श्री रामजी का संवाद पूछते, भरतजी चित्रकूट की सीमा में प्रविष्ट हुए।

ज्यों-ज्यों श्री रामजी का वास-स्थान निकट आता जाता था त्यों-त्यों दर्शन की उत्कण्ठा और प्रेम का उत्साह बढ़ता जाता था। उस दशा का वर्णन गोस्वामीजी ने कुंडलिया रामायण में किया है—

राम नाम रसना ललित ध्यान राम-सिय-रूप।
श्रवण कथा रघुपति सगुण हृदय चरित्र अनूप॥
हृदय चरित्र अनूप परत पग मग मग डोलैं।
सिथिल शरीर गँभीर राम सिय मुख भर बोलैं॥
मुख भर बोलें राम-सिय पंथ-अपंथहु निश्चलित।
वर्षत सुर जय जय कहत राम नाम रसना ललित॥

कुछ आगे चलने पर निषादराज ने वह सहज सुन्दर गिरिशृंग इंगित किया, जो घने वृक्षों से आच्छादित था, जिसके समीप पयस्विनी की निर्मल धारा बहती थी, तथा जिसके तट पर वनवासी श्री रामजी बसे हुए थे। उस शैल-शिरोमणि को दूर ही से देखकर भरतजी और उनके साथियों ने प्रणाम किया और सबको ऐसा भासित होने लगा मानो अयोध्या वहीं हो अथवा श्री रामजी अयोध्या वापिस आ गये हों। 'तहाँ अवध जहँ रामनिवासू' के आधार पर यह कल्पना उचित ही थी। परन्तु उस समय भरत के चित्त पर क्या बीत रही थी ? भावों के आघात और प्रत्याघात की लहरें उनके हृदय-सागर को कैसे हिलोर रही थीं, यह कोई न जानता था।

भरत प्रेम तेहि समय जस तस कहि सकें न शेष।

अयोध्या का स्मरण आते ही भरतजी के नेत्रों के सम्मुख उस विधुरा नगरी का दृश्य उतर आया। अपनी माता की कठोर करनी और श्री रामजी के निर्वासन का चित्र सामने झूलने लगा। पुरानी चोट फिर ताजी हो गई। कामद गिरि के दर्शन से जो आनन्द की लहर उठी थी, उसमें दूसरी दिशा से आकर अमित क्लेश और दुःख की धार वेग से टकरा गई। सुख-दुःख, आनन्द-क्लेश के इस धारा-प्रवाह संयोग से भरत के चित्त में आवर्त उठने लगा, जिसमें वे डूबने-उतराने लगे। 'कहीं नाम सुनते ही श्री राम-लक्ष्मण और सीताजी अपना वासस्थान त्याग अन्यत्र न चले जावें ?' 'माता कैकेयी का अनुयायी समझ कदाचित् श्री रामजी उनका मुख ही न देखना चाहें' ? 'जो कुछ भी वे करें सो कम है।' सम्भव है, श्री रामजी अपनी भ्रातृ एवं भक्त-वत्सलता का पालन कर उनके दोषों और अवगुणों की ओर न देख, अपना ही जन लेख, उन्हें अपना लें। ऐसे भाँति-भाँति के विकल्प उनके चित्त में उठने लगे।

जो परिहरहिं मलिन मन जानी।
जो सनमानहिं सेवक मानी॥
मोरे शरण राम की पनहीं।
राम सुस्वामि दोष सब जनहीं॥
अस मन गुनत चले मग जाता।
सकुचि सनेह सिथिल सब गाता॥

माता की करनी का स्मरण पैर पीछे हटाता और आन्तरिक निष्कपट भावना आगे बढ़ने का प्रोत्साहन देती थी। अपनी हीनता का अनुभव करते तो ठिठक जाते और श्री रामचन्द्रजी के औदार्य्य, सौशील्य तथा पतितपावनता का ध्यान आता तो दौड़ कर आगे बढ़ जाते। भक्त को अपने प्रभु की उस प्रकृति का ही तो विशेष आश्रय रहता है, जिसे भक्त कवि इन शब्दों में गान करते हैं—

श्री रघुवीर की यह बानि।
नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाय सुत ज्यों प्रेम की पहिचानि॥ (विनय)

निदान चित्त को स्थिर कर, हृदय को अपनी भावना का साक्षी बना, भरतजी आगे बढ़े और जैसे-जैसे चित्रकूट के सुन्दर, शीतल, शान्त वातावरण का उन्होंने अनुभव किया तैसे-तैसे उन्हें ज्ञात होने लगा कि वे राम-राज्य की सीमा के अन्तर्गत पहुँच रहे हैं।

बारहवाँ प्रकरण

वहाँ की बात

फटिक सिला मृदु विसाल, संकुल सुरतरु रसाल,
ललित लताजाल, हरति छवि वितान की।
मंदाकिनि-तटनि-तीर, मंजुल मृग-विहँग-भीर,
धीर मुनि गिरा गँभीर, साम-गान की॥
विरचित तहँ परन साल, अति विचित्र लखन लाल,
निवसित जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निजकर राजीव-नयन, पल्लव दल रचित सयन,
पियास परस्पर पियूष प्रेम पान की॥
(गीता-)

वहाँ सीताजी ने रात्रि में स्वप्न देखा कि भरतजी सब समाज को साथ लेकर आये हैं। शरीर उनका कान्तिहीन है। संगी-साथी भी दीन-मलिन और दुखी हैं। राजमाताओं का वेश विधवाओं जैसा बना है। सीताजी ने स्वप्न की चर्चा श्री रामजी से की। उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा कि स्वप्न अच्छा नहीं, कुछ न कुछ कठिन कुचाह सुनने में आवेगी। स्नान-पूजन आदि से निवृत्त हो श्री रामजी आसन पर आ विराजे। थोड़ी देर में उत्तर दिशा की ओर से आकाश में उड़ती हुई धूल दिखी और पक्षियों तथा हरिणों के विह्वल झुण्ड आश्रम में आ गये। चकित होकर श्री रामजी ने लक्ष्मण से कहा—

"हे लक्ष्मण ! जाकर देखो कि क्या कोई राज्य-पुरुष या राजा वन में मृगया करने आया है या कोई भयंकर हिंस्र जन्तु इस वन में आ गया है ।" (वाल०)

लक्ष्मणजी तुरन्त उठे और कुछ दूर चलकर एक ऊँचे साल-वृक्ष पर चढ़ गये । चारों ओर दृष्टिपात कर उन्होंने एक ओर ताका और उत्तेजित होकर कहने लगे—

'आप अग्नि बुझा दीजिए । सीताजी से कहिए, कि गुफा के भीतर जा बैठें । आप कवच पहनकर धनुष-बाण सँभाल लीजिए । स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि कैकेयी-पुत्र भरत अभिषिक्त होकर अकंटक राज्य करने की कामना से हम दोनों का वध करने के लिए आ रहा है । रथ का रंग और पताका का चिह्न स्पष्ट बतला रहा है कि वही है ।'

'हे रघुनन्दन ! जिसके हेतु आपको, सीताजी को और मुझे इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है, जिसके कारण आप सनातन राज्य से च्युत किये गये हैं वही भरत शत्रुभाव से आया है, अतः वध करने योग्य है । हे राघव, उसे मार डालने में मुझे कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ।'

'हाथी के तोड़े हुए वृक्ष की भाँति, मेरे हाथ से भरत को मृत हुआ देख, कैकेयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं कैकेयी को, उसके बन्धुओं को तथा सेविकाओं को मार डालूँगा जिससे यह पृथ्वी उस कैकेयी रूप महापाप से छुटकारा पा जावे ।'

'हे मानद ! बहुत दिनों से रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किये हुए तिरस्कार को आज शत्रु-सेना पर इस प्रकार छोड़ूँगा जैसे सूखे तृणों पर आग छोड़ी जाती है । निस्सन्देह इस संग्राम में मैं सेना सहित भरत का वध कर अपने धनुष-बाण के ऋण से मुक्त हो जाऊंगा ।' (वाल०)

इस तरह कुपित और युद्ध करने को उद्यत लक्ष्मणजी को देखकर उन्हें शान्त करने के लिए श्री रामजी बोले—

'हे लक्ष्मण ! जब बड़ा धनुष धारण करनेवाले तथा बड़े ज्ञानी भरत स्वयं आये हैं तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल-तलवार की क्या आवश्यकता है ?

'मैं पिताजी की उस सत्य वाणी को मानकर यदि भरत का वध कर राज्य प्राप्त करूँ तो ऐसे अपवाद-युक्त राज्य को लेकर क्या करूँगा ? बन्धु-बान्धवों और इष्ट-मित्रों का वध करने से जो धन प्राप्त होता है वह मैं ग्रहण नहीं कर सकता। वह तो विष मिले भोजन की तरह त्याज्य है।

'हे लक्ष्मण ! मैं शपथपूर्वक, शस्त्रों को छूकर, कहता हूँ कि मैं राज्य की कामना केवल अपने भाइयों के पालन एवं सुख के लिए करता हूँ। ससागरा पृथ्वी का राज्य हस्तगत कर लेना मेरे लिए दुर्लभ नहीं किन्तु अधर्मपूर्वक तो मैं इन्द्रपद भी नहीं लेना चाहता।

'तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना मुझे किसी भी वस्तु का सुख मिलता हो तो अग्निदेव उसे भस्म कर डालें।'

धन्य है यह सौहार्द, वात्सल्य और विश्वास ! कहावत भी है कि दिल से दिल को राहत होती है। श्री रामजी और भरतजी का एक दूसरे के प्रति जो प्रेम और विश्वास था, उसका ज्वलन्त प्रमाण उपर्युक्त वचनावली है। यही तो है लोक-शिक्षा, यही तो है मर्यादा-सेतु-बन्धन जिसके अर्थ इन पुरुषोत्तम ने नर-रूप धारण किया था। आधुनिक युग की क्या कथा, जहाँ सहोदर भाई छोटी छोटी बातों के लिए, अल्प स्वार्थों के लिए स्वयं उत्तेजित होकर या किसी के बहकाने में आकर एक दूसरे के रक्त से अपने हाथ रँगने को उद्यत हो जाते हैं। श्री रामजी के चित्त में यह बात जमती ही न थी कि दल-बल-सहित भरत उनका कोई भी अनिष्ट करने की नियत से आ रहे हैं। उन्होंने लक्ष्मणजी को समझाया और शान्त किया कि

भरत के सम्बन्ध में उनकी धारणा उचित नहीं। श्री रामजी ने यह भी प्रकाशित कर दिया कि मानव-जीवन नितान्त स्वार्थपूर्ण न होना चाहिए तथा मनुष्य को अपने बन्धु-बान्धवों पर सहसा अविश्वास कर उत्तेजित न हो जाना चाहिए। अधर्मपूर्वक स्वार्थ-सिद्धि सर्वदा त्याज्य है। उसकी चेष्टा निन्दनीय है। उसे आश्रय न देना ही मानवता है। इसके उपरान्त नीति तथा धर्म का उल्लेख करते हुए श्री रामजी लक्ष्मण से कहने लगे :—

'मुझे तो जान पड़ता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई भरत जब ननिहाल से अयोध्या आया और हम तीनों का वल्कल धारण कर वन में आना उसने सुना तब स्नेहपूर्ण हृदय और शोक से विह्वल होकर तथा अपने कुल-धर्म का (कि राज्याभिषेक बड़े को होना चाहिए) स्मरण कर हम लोगों से मिलने आ रहा है। उसका अन्य कोई अभिप्राय नहीं। ऐसा नहीं हो सकता कि भरत कभी हमारे अनिष्ट की कल्पना भी करें। भरत के विषय में ऐसे कठोर अप्रिय वचन तुम्हें न कहना चाहिए। जो कुछ उनके बारे में कहोगे या करोगे वह मानो मुझसे कहना होगा। जरा सोचो तो, चाहे कैसी ही विपत्ति क्यों न आ पड़े, पिता अपने पुत्र का या भाई अपने प्राणप्रिय भाई का वध नहीं कर सकता। मैं सत्य कहता हूँ कि मेरे ऐसा कहते ही कि 'राज्य इसे दे दो' भरत सिवाय 'बहुत अच्छा' कहने के नाहीं तो कभी करेगा ही नहीं।' (वाल०)

श्री 'रामचरितमानस' में यह प्रसंग मनोभावनाओं की अपूर्व छटा से संयुक्त चित्रित किया गया है। भरतजी के आगमन की सूचना श्री रामजी को लक्ष्मण द्वारा नहीं, किन्तु कोल-भीलों द्वारा प्राप्त हुई। शुभ समाचार सुनकर श्री रामजी पुलकित हो उठे परन्तु शीघ्र ही विचार-विमग्न हो गये कि भरत आये ही क्यों? जिस तरह राज्य छोड़कर वे स्वतः चले आये हैं, कदाचित् उसी तरह—

भद्रे, न भरत भी उसे छोड़ आये हों ?
मातु,-श्री, से भी न मुँह मोड़ आये हों ?
लक्ष्मण ! लगता है यही मुझे, हे भाई !
पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई। (साकेत)

सोच-विचार में पड़ने का दूसरा कारण यह था कि कहीं भरत उनको अयोध्या वापिस ले जाने का आग्रह न करें। यदि भरत ने ऐसा किया तो उसको अस्वीकार करना कष्टप्रद होगा और स्वीकार करना पिता की आज्ञा का उल्लंघन होगा। भरत की इच्छा का समादर न करने से उनको दु:ख होगा। इस प्रकार के संकल्प-विकल्प श्री रामजी के चित्त में उठने लगे। एक ओर कर्त्तव्य और दूसरी ओर भ्रातृ-भावना। इन दोनों के संघर्ष से उनका चित्त चंचल हो उठा। परन्तु यह समझकर कि भरतजी सज्जन हैं; साधु-स्वभाव, बुद्धिमान् तथा आज्ञाकारी हैं, श्री रामजी को तुरन्त धैर्य और समाधान हो गया। मनोगत द्वन्द्व की प्रतिच्छाया उनके मुखारविन्द पर पड़ती और फैलती हुई लक्ष्मणजी ने देखी। वे विचलित हो उठे। श्री रामजी का कैकेयीपुत्र भरत के ऊपर इतना विश्वास उन्हें उचित न जँचा। वे समय के अनुसार नीतियुक्त वचन बोले—

नाथ हृदय सुठि सरल चित शील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान॥

भरत नीति-रत साधु सुजाना।
प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना॥
तेऊ आज राजपद पाई,
चले धर्म मरजाद मिटाई।
करि कुमंत्र मन साजि समाजू,
आये करन अकंटक राजू॥
... ...

जो जिय होत न कपट कुचाली।
केहि सुहात रथ-बाजि-गजाली?
भरतहिं दोष देइ को जाये?
जग बौराय राजपद-पाये॥
... ...
एक कीन्ह नहिं भरत भलाई।
निदरे राम जान असहाई॥

यह कहते ही कहते नीति रस की धारा तो खण्डित हो गई और वीर रस जाग्रत हो उठा। अपनी स्वाभाविक शक्ति और सचाई को तौल, श्री राम-चरणों की वन्दना कर, वे क्रोध में गरजने लगे—

अनुचित नाथ न मानब मोरा।
भरत हमहिं उपचरा न थोरा॥
कहँ लग सहिय, रहिय मन मारे?
नाथ साथ धनु-हाथ हमारे॥
... ...
आजु रामसेवक जस लेऊँ।
भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फल पाई।
सोवहिं समर-सेज दोउ भाई॥

लक्ष्मणजी को अति क्रोधित और उत्तेजित देख श्री रामजी ने आदर और प्रेम के साथ उन्हें शान्त किया तथा धीरे धीरे समझाते हुए बोले—

सुनहु लखन भल भरत-सरीसा।
विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरतहि होय न राजमद विधि-हरि-हर-पद पाय ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरन क्षीरसिन्धु बिलगाय ?

... ...

भरत हंस रविवंस तड़ागा ।
जनमि कीन्ह गुण-दोष-विभागा ।।
गहि गुण-पय तजि अवगुण-बारी ।
निज यश जगत कीन्ह उजियारी ।।

भरत के गुण-शील और स्वभाव की प्रशंसा करते हुए श्री रामजी भरत के ध्यान में कुछ देर तक अपने आपको भूल गये ।

तेरहवाँ प्रकरण

प्रणिपात

If thou canst plan a noble deed—
And never flag till it Succeed,
Though in strife thy heart should bleed;
Whatever obstacles control.
Thine hour will come. Go on true soul.
Thou wilt win the prize.
Thou will reach the goal. (Mackay)

कामद् गिरि उस दिन उल्लास से गर्वित था। पहाड़ की तराई में सैन्य को ठहरा कर, माताओं का भार गुरु वशिष्ठ को सौंप, शत्रुघ्न और गुह को साथ ले, भरतजी उस स्थान की खोज में निमग्न हुए जहाँ श्री रामजी वास कर रहे थे। चित्त में एक ही लगन थी, एक ही चिन्ता व्याप्त थी—

'जब तक मैं श्री रामजी को महाबली लक्ष्मण और महाभाग्यवती सीताजी सहित न देख लूँगा, जब तक श्री रामजी के राजचिह्नों से युक्त चरण-युगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा, जब तक राज्य करने योग्य श्री रामजी उस पितृ पितामह के राज्य पर अभिषेक के जल-द्वारा आर्द्र न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा।' (वाल०)

इस भावना में डूबे भरतजी गुह का हाथ पकड़े चल रहे थे। श्री रामचन्द्रजी के निवास से उस वनस्थली की शोभा अपूर्व हो

गई थी। वहाँ के निवासी और मुनिगण तो अभय हो ही गये थे, किन्तु—

खगहा करि हरि बाघ बराहा।
देखि महिष वृक साज सराहा॥
बैरि बिहाय चरहिं इक संगा।

जिस स्थल में जंगली जानवर भी अपना हिंस्र स्वभाव भूल एक साथ विचरण करते हों, वही तो तपोवन कहा जा सकता है। शान्त प्रकृति की अपूर्व छटा में विभोर होते वे आगे बढ़े। गुह एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ा। उसने वह स्थान इंगित किया जहाँ श्री रामचन्द्रजी की कुटी बनी हुई थी। उत्सुक भरतजी स्वयं पेड़ पर चढ़े और उस स्थान तथा उस गगनचुम्बी वट वृक्ष को देखा जिसके नीचे वे प्रसिद्ध वनवासी ठहरे थे। (वाल०)

वहाँ से दोनों भाई श्री रामजी के चरण-चिह्नों को देखते, प्रणाम करते, रज मस्तक में लगाते आश्रम की सीमा में पहुँचे। घने वृक्षों की ओट होने से श्री रामजी का ध्यान आगन्तुकों की ओर आकृष्ट न हुआ परन्तु भरत ने बारम्बार देखा कि—

जटा-मंडल धारण किये, अग्नि की तरह तेजस्वी, ऊपर से काले मृग का चर्म ओढ़े, वल्कल चीर पहने, कुटी के पास श्री रामचन्द्रजी शाश्वत ब्रह्म के समान बैठे थे और पास ही चबूतरे पर कुशासन के ऊपर सीता तथा लक्ष्मण बैठे थे। (वाल०)

प्रथम दर्शन के उपरान्त विकलित भरत मन ही मन गुनगुनाने लगे—

जो अमूल्य वस्त्र धारण करने योग्य हैं वे महात्मा धर्माचरण के हेतु हिरन का चाम ओढ़े हुए हैं। जो सदा तरह तरह के पुष्पों की चित्र-विचित्र माला धारण करते थे वे जटा-भार सहन कर रहे हैं। जिनके शरीर में मूल्यवान् चन्दन का लेप किया जाता था उनका

शरीर मैला हो रहा है। उन सुखों का उपभोग करनेवाले श्री राम जी मेरे ही कारण यहाँ कष्ट भोग रहे हैं। मेरे इस नृशंस और लोक-निन्दित जीवन को धिक्कार है। (वाल०)

उस दृश्य को देख भरतजी अति कातर हो सजल-नयन हो गये। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और सिसकते हुए मुखमण्डल पर स्वेद-बिन्दु झलक उठे। भरतजी ने चाहा कि दौड़कर श्री रामचन्द्र जी के चरणों में गिरें किन्तु वहाँ तक न पहुँच सके। बीच में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े और उनके मुख से एक बार 'हा आर्य' यही एक शब्द निकला, अधिक न कह सके। अधिक बोलने की न तो सामर्थ्य ही थी और न आवश्यकता। वह तो हार्दिक प्रार्थना की ऐसी काव्यात्मक परिभाषा थी जिसका छंद एक ही शब्द में समाप्त हो गया था। आँग्ल कवि मांट गोमरी ने कहा भी तो है—

'Prayer is the simplest form of speech.
That infant lips can cry.'

भरत के मुख से निकला हुआ शब्द सुनकर श्री राम का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने दौड़कर विवर्ण मुख और अत्यन्त दुर्बलता के कारण बड़ी कठिनाई से पहचान में आनेवाले प्राणप्रिय भाई को दोनों हाथों से पकड़कर उठाया और हृदय से लगा लिया। (वाल०)

"भैया भैया" कह उभय भुजाएँ फूलीं,
वक्षस्थल चिपके कसी लताएँ भूलीं।
मन बुद्धि अहं तक एक हुए घुल मिलकर,
थी एक नीलिमा शेष, कहाँ कुछ अन्तर।

(सा० सं)

भक्त भरत के लिए तो यह आत्मसमर्पण का सुखद स्वर्ण मुहूर्त था। उनके हृदय में जो दावानल धधक रहा था, वह आश्रम

की परिधि में पैर रखते ही उसी तरह शान्त हो गया जिस प्रकार उस योगी का तप समाप्त हो जाता है जो मोक्ष-पद की परिधि के भीतर पहुँच जाता है। प्रभु से साक्षात्कार की मंगल बेला में दुख-द्वन्द्व कहाँ और कैसे ठहर सकते हैं? वह तो आत्मविस्मृति का समय है। वृक्षों और लताओं की ओट में से भरतजी ने कुटी के दर्शन किये और देखा कि श्री रामजी के सम्मुख बैठे हुए लक्ष्मण कुछ बात कर रहे हैं। जो रूप-दर्शन भरत को हुआ वह था—

सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे।
तूण कसे कर शर धनु काँधे॥
कर कमलन धनु सायक फेरत।
'जी की जरनि' हरत हँस हेरत॥

जिस 'जी की जरनि' का बारम्बार उल्लेख भरतजी ने निषाद-राज और महर्षि भरद्वाज से किया था, उस जलन को शान्त करने-वाली श्री रामजी की उस मधुर मुस्कान को ज्यों ही भरत ने देखा कि उनका दुख-शोक ही नहीं वरन् सुख और हर्ष भी पलायित हो गया। चित्त निर्विकार हो गया। उनके पैर, जो कुछ समय पहले शोक और संकोचरूपी दलदल में धँसे जाते थे, एकदम उतावले हो गये। वे रोमांचित, शिथिल शरीर का बोझ सँभालने में अशक्त हो गये। प्रेमाश्रु-पूरित नयन आगे देख ही न सके और भरतजी—

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥

किसी ने जान ही न पाया कि क्या हुआ, न पहचान पाया कि कौन आया, सिवाय एक सचेत रक्षक एवं सेवक लक्ष्मण के। 'पाहि नाथ, पाहि गुसाईं' शब्द सुनते ही लक्ष्मणजी ने भरतजी की परिचित वाणी पहचान ली। उस समय वे स्वामी की सेवा और उत्कृष्ट भाई की प्रेम भावना के बीच फँसकर न सेवा ही छोड़

सके और न गिरते हुए भाई को ही सँभाल सके। लक्ष्मण ने तुरन्त श्री रघुनन्दन का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—

भरत प्रणाम करत रघुनाथा।

भरतजी के धराशायी होने की क्रिया में और लक्ष्मण के वाक्योच्चारण में कदाचित् विलम्ब हुआ हो परन्तु भगवान् श्री रामचन्द्रजी की उन लम्बी भुजाओं को भरत को सँभालने और आश्रय देने में देर न लगी। उन वरद हस्तों का वर्णन एक आँग्ल कवि ने इस प्रकार किया है—

There is an arm that never tires,
When human strength gives way;
There is love that never fails.
When earthly loves decay.

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट, कहुँ निषंग धनुतीरा॥

बरबस लिये उठाय उर लाये। कृपानिधान।
भरत राम की मिलन लख बिसरे सबहिं अपान॥

उस सम्मिलन से उमड़े हुए प्रेम-सागर का वर्णन कौन कर सकता है? वह परमानन्द शब्दों का विषय नहीं। जहाँ दर्शकगण ही आत्मस्मृति खो बैठें उस दृश्य का वर्णन करे ही कौन? भरत-भेंट के उपरान्त शत्रुघ्नजी श्री रामजी के पैरों से लिपट गये। भरत ने ललककर लक्ष्मण को गले से लगा लिया और फिर लक्ष्मण ने शत्रुघ्न को। श्री रामजी गुह से मिले। सत्वर—

सानुज भरत उमगि अनुरागा।
धरि सिर सिय-पद-पद्म-परागा॥
पुनि-पुनि करत प्रणाम उठाये।
सिय कर-कमल परसि बैठाये॥

सीय असीस दीन्ह मन माहीं।
मगन सनेह, देह सुधि नाहीं॥

महारानी सीता के मौन आशीर्वाद ने भरत के चित्त की व्यग्रता अपहरण कर ली। श्री सीताजी को सब प्रकार से सानुकूल देख भरत की सारी शंकाएं दूर हो गईं। सीता-चरण-वन्दन का वर्णन श्री मैथिलीशरणजी ने अत्यन्त सुन्दर पदावली में किया है—

सीता-चरणामृत बना नयन-जल उनका।
इनका दृगम्बु अभिषेक सुनिर्मल उनका।

(साकेत)

दोनों के नेत्र झर रहे थे। भरत के नयनों का जल सीताजी के चरणों का प्रक्षालन कर रहा था तथा सीताजी के नेत्रों की धारा भरत के मस्तक पर झर रही थी, मानो उनका अभिषेक कर रही हो। यह मौन आशीर्वाद था जिसने भरत को अभय कर दिया था। वियोगी प्रेम-संयोगी बन गये थे। सभी शान्त थे, स्तब्ध थे।

कोउ कछु कहै न कोउ कछु पूछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥

भक्ति का ऐसा सुन्दर परिपाक अन्यत्र दुर्लभ है।

चौदहवाँ प्रकरण

बृहत् सम्मेलन

१—महर्षि वाल्मीकि का दृष्टिकोण

भरतजी से भेंट हो जाने के पश्चात् श्री रामजी गुरु वशिष्ठ, माताओं और पुरवासियों से मिले। उन्हें अपने पूज्यपाद पिताजी के स्वर्गारोहण का समाचार मिला, तब—

मरण-हेतु निज नेह विचारी।
भे अति विकल धीर-धुर-धारी॥

गुरु वशिष्ठ ने सबको समझाया, धैर्य दिया। यथाविधि स्नान, पिण्डदान के उपरान्त दो दिन में जब सब स्वस्थ हुए तब सभा एकत्र हुई और श्री रामचन्द्रजी ने, भरतजी से उनके चित्रकूट आने का कारण पूछा—

'हे भरत! तुम राज्य छोड़कर, काले मृग का चर्म ओढ़े, जटा धारण कर, किस हेतु यहाँ आये हो?' (वाल०)

महर्षि वाल्मीकिजी ने, भक्त कवि तुलसीदासजी ने तथा आधुनिक कवियों में श्री मैथिलीशरणजी ने अपनी अपनी भावना के अनुसार इस प्रसंग का सफलतापूर्वक वर्णन किया है। हर एक का दृष्टिकोण भिन्न है। अन्य कवियों और लेखकों ने भी इस प्रसंग पर अपनी लेखनी अवश्य चलाई है, परन्तु जिस धारणा से उपर्युक्त तीनों महाकवियों ने इन आदर्श चरित्रों को सँभाला है, वैसा दूसरों से नहीं बन पड़ा। चित्रकूट का मनोहर पर्वत इस सम्मेलन पर, कठोर कर्तव्य और मृदुल प्रेम के संघर्ष का क्रीड़ास्थल बन गया है।

एक ओर के मुख्य खिलाड़ी हैं श्री रामचन्द्रजी और दूसरी ओर के भरतजी। इन दोनों महान् आत्माओं ने 'राज्यश्री' को चरण-कंदुक (फुटबाल) बना डाला है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस वायुपूरित गेंद को एक ओर से श्री रामचन्द्रजी ठुकराते हैं, वह ऊँची उछलती है और पृथ्वी पर गिरने के पूर्व ही श्री भरतजी अपने पैर की ठोकर से फिर उसे वापिस भेज देते हैं। दोनों भाई अपने अपने उच्च नैतिक स्तरों पर निर्भय खड़े दिखाई देते हैं—

इधर अड़ा कर्तव्य अटल-सा,
उधर प्रेम की आँखें तर हैं।

कोई हार मानने को तैयार नहीं। इस नैतिक पृष्ठभूमि को जाबालि नामक ऋषि ने विचलित करना चाहा, किन्तु उन्हें अपने मुँह की खानी पड़ी। श्री रामजी निश्चिन्त हैं, परन्तु भरत चिन्तित हैं। श्री रामजी के सम्मुख मुख्य प्रश्न था 'पिता की आज्ञा का पालन' जिसमें निहित थी दशरथजी की सत्यनिष्ठा एवं अक्षय कीर्ति। इस प्रश्न के उत्तर पर स्वयं श्री रामजी की कीर्ति तथा सत्यनिष्ठा अवलम्बित थी और उसी से भारतीय समाज में मर्यादा की शुभ्र रेखा अंकित होने को थी। बिना किसी हिचकिचाहट के, उक्त प्रश्न का उत्तर, वे वन प्रस्थान के रूप में दे ही चुके थे। उससे विमुख होना, उनके लिए सम्भव न था। भरतजी के सम्मुख थे दो प्रश्न। एक तो 'कुल परम्परा का खण्डित होना' (जो उस काल के समाज को असहनीय था) अर्थात् ज्येष्ठ बन्धु की उपस्थिति में लघु बन्धु का राज्यासीन होना; दूसरा प्रश्न था, 'अपने तथा अपनी माता पर आरोपित कलंक'। जब तक श्री रामजी वापिस अयोध्या न लौटें और राज्य ग्रहण न करें तब तक उससे मुक्ति न थी। गुरु वशिष्ठ, माताएं, ऋषिवर्ग, प्रजापंच तथा अन्य दर्शक अपनी-अपनी समवेदना प्रकाशित करते हैं किन्तु प्रश्न का हल नहीं सुझा

भी अनूठा था। राजा 'पुरुष' अर्थात् ईश्वरवत् लेखा जाता और प्रजा उसकी 'प्रकृति' मानी जाती थी। राजा के कर्म पर प्रजा का सुख-दुःख अवलम्बित माना जाता और प्रजा के कष्टों का प्रायश्चित्त राजा को करना पड़ता था। आर्यों में यह भावना इतने प्रबल रूप से पैठी हुई थी कि आज तक राज्याध्यक्ष के प्रति हिन्दू जाति का समादर शेष है। तुलसीदासजी का वाक्य—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

उपर्युक्त अर्थ का द्योतक है।

निदान भरी सभा में जब श्री रामजी ने तपस्वी-वेष भरत से वन में आने का अभिप्राय पूछा तब दुःखी, कलंकित भरत ने रोते रोते उत्तर दिया—

हे आर्य! महाराज पिताजी, मेरी माता कैकेयी के कहने में आ, दुष्कर्म कर तथा पुत्र-शोक से विकल हो स्वर्ग को सिधार गये। हे परन्तप! मेरी माता ने अपने यश को नाश करनेवाला यह महापाप कर डाला है। मैंने न तो पिताजी से राज्य माँगा और न माता को सिखाया-पढ़ाया और न मुझे आपके वनवास का ही कोई हाल विदित था। ये प्रजाजन और सब माताएँ आपके पास आई हुई हैं। अतएव आप विनती मान लें।

हे मानद! आप ज्येष्ठ होने के कारण राज्य के अधिकारी हैं और सिंहासन पर बैठना आपको उचित है। अतएव धर्मानुसार राज्य-भार ग्रहण कर आप सुहृदजनों की कामना पूर्ण करें। मैं केवल आपका भाई ही नहीं हूँ प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। अतः इन मंत्रियों सहित आपको प्रणाम कर आपसे यह भिक्षा माँगता हूँ। अतः आप प्रार्थना पर ध्यान दें। (वाल०)

इस प्रकार प्रार्थना करते करते भरतजी पसीना पसीना हो गये और आगे न बोल सके। तब श्री रामजी ने उन्हें सम्बोधित, सन्तोषित करते हुए उत्तर दिया--

'हे भरत ! तुम जैसा कुलवान्, सत्वगुणी व्रतधारी पुरुष एक राज्य के लिए क्योंकर अपने बड़े भाई के प्रति प्रतिकूल आचरण कर, पाप का भागी बनना पसन्द कर सकता है ?

हे अरिसूदन ! मुझे तो तुम में किञ्चित् दोष नहीं दिख पड़ता। बिना समझे-बूझे तुम्हें अपनी माता की निन्दा नहीं करना चाहिए।

हे सौम्य ! महाराज पिता हम लोगों के नियन्ता हैं। वे चाहें हमें चीर-वसन और मृगचर्म धारण करा वन में रखें अथवा राज्य में रखें। हे भरत ! जब धर्मात्मा माता-पिता दोनों ने मुझे वन को आज्ञा दी तब मैं किस प्रकार उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर अन्यथा कर सकता हूँ। (वाल०)

इन शब्दों से भरतजी के चित्त में यह शंका उत्पन्न हुई कि कदाचित् श्री रामजी इस कारण क्षुब्ध हैं कि महाराज दशरथ ने उनको उत्तराधिकारी न बनाकर मुझे (भरत को) राज्य दिया है और वे दूसरे को प्रदान किया हुआ राज्य कैसे ग्रहण करें ? भरत की ऐसी चिन्ता उचित ही थी। देवी कौशल्या ने स्वयं ऐसी बात उनकी अनुपस्थिति में कही थी कि 'भरत का भोगा हुआ (जूठा) राज्य श्री राम चौदह वर्ष के पश्चात् भी कभी ग्रहण न करेंगे। (वाल०) तब भरत को एक ही बात समाधान करने के हेतु सूझी और उन्होंने राज्य-संचालन में अपनी अयोग्यता का वर्णन करना प्रारम्भ किया, इस हेतु से कि राज्य की अव्यवस्था के अपवाद एवं भय से कदाचित् श्री रामजी वापिस चलने को राजी हो जावें। अपनी हीनता प्रकाशित करते हुए भरत बोले—

आपके रहते मैं किस तरह पृथ्वी का पालन कर सकता हूँ ? मैं बुद्धिहीन हूँ, सद्‌गुणहीन हूँ, आपसे पद में निम्न तथा बालक हूँ। बिना आपके मैं रह भी तो नहीं सकता, राज्य करने की बात तो दूर की है। अतः पिताजी के इस विस्तृत एवं निष्कंटक राज्य का पालन बन्धु-बान्धवों समेत आप करें। हे भ्रातृश्रेष्ठ ! महाराज ने वरदान द्वारा जो राज्य मेरी माता को देकर उसे शान्त किया, वह राज्य माता ने मुझे दे डाला। अब वही राज्य मैं आपके चरणों में अर्पित करता हूँ। आप इस निष्कंटक राज्य का उपभोग कीजिए। यदि आप मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार न कर यहाँ से दूर वन को चले जावेंगे तो मैं भी आपके साथ ही साथ चलूँगा। (वाल०)

भरत की ऐसी निर्लिप्त वाणी सुन श्री रामजी ने उत्तर दिया—

हे भरत ! तुम बुद्धिमान् और धैर्यवान् हो अतः इस प्रकार शोकान्वित हो विलाप करना तुम्हें उचित नहीं। स्वस्थ हो जाओ और शोक को त्याग कर अयोध्या में वास करो।

हे वाग्मिवर ! पिताजी तुमको अयोध्या पुरी में स्वतंत्रतापूर्वक रहने की आज्ञा दे गये हैं। अमित बुद्धिमान् शत्रुघ्न तुम्हारे सहायक रहेंगे और लोक-प्रसिद्ध लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे। इस प्रकार नृपश्रेष्ठ दशरथजी के हम चारों पुत्र अपने पिता को सत्यवादी करें। तुम विषाद न करो। हे भरत ! मेरी प्रसन्नता के लिए तुम महाराज को इस ऋण से उऋण करो और उनके यश की रक्षा करो तथा राज्यासन पर बैठ माता कैकेयी को प्रसन्न करो। (वाल०)

जब भरतजी ने देखा कि उनकी प्रार्थनाएँ हर प्रकार से विफल हो रही हैं और श्री रामचन्द्रजी अपने प्रण पर अटल हैं, जरा भी टस से मस नहीं होते, तब शुद्ध-संकल्प भरत ने अनशन करने की ठानी और उदास हो सुमन्त्रजी से कहा—

हे सारथे ! इस चबूतरे पर तुम शीघ्र ही कुशासन बिछा दो। जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री रामजी मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे तब तक मैं उन कुशों पर धरना देकर बैठा रहूँगा। जब तक श्री रामचन्द्रजी लौटकर अयोध्या न चलेंगे, तब तक एक धनहीन ब्राह्मण की तरह, भोजन त्यागकर, मुँह ढक, इसी कुटी के द्वार पर अड़ा रहूँगा। (वाल०)

भरतजी की ऐसी विकट आज्ञा सुन सुमन्त्र हतबुद्धि हो, श्री रामजी के मुख की ओर देखने लगे और उनके रुख को परखने लगे। कार्य में देर होती देखकर भरतजी ने स्वयं ही कुश बिछा दिया और श्री रामचन्द्रजी के सम्मुख धरना देकर बैठ गये। जब श्री रामजी ने देखा कि प्रसंग अधिक जटिल होता जा रहा है और सुलझने की अपेक्षा समस्या और भी उलझती जा रही है तब अतीव मृदु वाणी से भरतजी की सराहना करते हुए बोले—

हे भाई, मैंने आपका क्या अपकार किया है जो आप मेरे ऊपर धरना देते हो ? हे नर-शार्दूल, इस कठोर व्रत को त्याग कर आप उठें। इस कठोर व्रत को त्यागें और शीघ्र ही अयोध्या को गमन करें।

श्री रामजी की ऐसी आज्ञा सुन भरत ने पुरवासियों और जन-पद-वासियों से कहा कि वे सब श्री रामचन्द्रजी से क्यों कुछ नहीं कहते। उपस्थित जनता ने श्री रामचन्द्रजी से कहा भी कि भरतजी का कहना ठीक है। परन्तु हाँ या न का उत्तर न पाकर वे लोग भरत से बोले—

हम लोग श्री रामजी से हठपूर्वक आग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि वे महाभाग पिताजी की आज्ञा का पालन करने का दृढ़ संकल्प किये हुए हैं। हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि उनसे तुरन्त लौट चलने को कहें। (वाल०)

तब भरतजी ने पुरवासियों से प्रार्थना की—

यदि पिताजी के आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है तो मैं श्री रामजी का प्रतिनिधि बन चौदह वर्ष वनवास करूँगा और श्री रामचन्द्रजी मेरे प्रतिनिधि बन अयोध्या का राज्य करें।

धर्मात्मा श्री रामचन्द्रजी अपने छोटे भाई धर्मवीर भरत के इन सत्य और निष्कपट वचनों से विस्मित हो पौरजनों तथा जन-पद-वासियों से बोले—

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते जी यदि कोई वस्तु बेच डाली या धरोहर कर दी तो यह बात मेरे या भरत के अधिकार से बाहर है कि उनके किये हुए को मेट दें। सज्जनों से निन्दा कराने के लिए मैं यह दुष्कर्म कभी न करूँगा कि भरत को अपना प्रतिनिधि बनाकर वन को भेजूँ। माता कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा और माँगा सो ठीक ही कहा और पिताजी ने जो कुछ किया और दिया सो अच्छा ही किया। (वाल०)

उस समय वे बहुत-से ऋषिगण जो रावण का हनन शीघ्र कराना चाहते थे (वरन् जिनके आयोजन से यह काण्ड उपस्थित हुआ था) भरतजी के समीप एकत्र हुए। उन्होंने भरत को समझाया कि श्री रामचन्द्रजी दुष्ट राक्षसों का विनाश करने एवं आर्य-संस्कृति की रक्षा एवं सामाजिक मर्यादा स्थापित करने के लिए अवतरित हुए हैं। उनका वन-गमन लोक-हित-कारक और सबके लिए श्रेयस्कर है तथा उन्हें (भरत को) अपने पिता और भ्राता के प्रण की रक्षा करना उचित है, तब भरतजी, श्री रामजी के चरणों पर गिर पड़े। श्री रामजी ने आह्लादपूर्वक उन्हें उठाकर अपनी गोद में बिठा लिया और हर प्रकार से सान्त्वना दी। पश्चात् वे बोले कि पितृऋण-मोचन का दूसरा द्वार खुला न होने से वे विवश हैं। तब शोकाकुल भरत ने दो स्वर्णजटित खड़ाऊँ श्री रामजी के सम्मुख रख दीं। श्री रामजी ने वे पादुकाएँ पहन

लीं और फिर उनको उतार कर महात्मा भरत को दे दीं। भरतजी ने उन दोनों पादुकाओं को प्रणाम कर कहा—

हे परन्तप! आपकी अनुपस्थिति में सब राज्य-कार्य आपकी पादुकाओं को अर्पण कर मैं राज्य-प्रबन्ध देखता और करता रहूँगा। हे रघुनन्दन! आज से चौदह वर्ष तक जटा चीर धारण कर कन्द मूल फल खाकर आपके आगमन की प्रतीक्षा करता रहूँगा। मैं नगर से बाहर रहूँगा और जिस दिन चौदह वर्ष पूर्ण होंगे उस दिन यदि आपको मैंने अयोध्या में न देखा तो, हे रघुनाथ, मैं अग्नि में गिरकर भस्म हो जाऊँगा। (वाल०)

श्री रामचन्द्रजी ने "तथास्तु" कहकर प्रतिज्ञा की और उपस्थित जनता को आदेश दिया—

मैं यह जानता हूँ कि भरतजी बड़े क्षमाशील और पूज्य जनों तथा बड़ों की मान-मर्यादा रखनेवाले हैं। इन सत्यसिन्धु महात्मा में सब गुण भले ही भले हैं। इनके द्वारा राज्य-शासन अच्छी तरह हो सकता है। मैं यह भी वचन देता हूँ कि जब मैं वन से लौटकर आऊँगा तब अपने इन धर्मशील भाई से राज्य का शासन-भार ग्रहण कर लूँगा।

श्री रामजी ने भरत और शत्रुघ्न को पुनः हृदय से लगाकर सान्त्वना दी और बोले :—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।

...   .

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम।

(वाल०)

हे भरत! माता कैकेयी की भली भाँति रक्षा करना। सावधान! उन पर क्रोध न करना। तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है।

२—साकेतकार की सफलता

चित्रकूट सम्मेलन में 'साकेत' कार ने भरत-चरित्र का विशेष वर्णन न कर महारानी कैकेयी का चरित्रांकन किया है। कदाचित् इस अभिप्राय से कि सर्वथा निर्दोष एवं निर्मल भरत-चरित्र और अधिक उज्ज्वल किया ही नहीं जा सकता। कवि ने यथास्थान भरत को उपस्थित करा, तीव्र ग्लानि-संयुत व्यंग्य द्वारा उनका अभीष्ट जता, उन्हें एक ओर बैठा दिया है और उनके स्थान पर उनकी अभागिनी, कलंकिनी माता को उपस्थित कर दिया है। 'साकेत' में कैकेयी-चित्र बड़ी सतर्कता, सार्थकता एवं सफलता से अंकित हुआ है। रानी कैकेयी को निष्कलंक प्रमाणित करने में पं० शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने भी यथासाध्य श्रम किया है। उनका 'राम-कैकेयी'-संवाद शास्त्रीय ढंग का है और उसमें श्री रामजी ने अपनी विमाता को तत्त्वज्ञान द्वारा संतोष दिया है। कैकेयी ने अपना ही दुख रोया है, न कि भरत का बल्कि उपालम्भ रूप में श्री रामजी से कहा है—

> 'भरत भले, तुम भले, सबै जन भल बनि बैठे।
> मैंहि अभागिनि अहौं, करम व्याहि के भल ऐंठे॥
> चह्यो त्याग मरिजाद भाइ द्वउ यक दूसरि लगि।'
> जस की तस रख मोहि, काह लीन्हो तुम ना ठगि॥
>
> (भ० म०)

सच तो यह है कि जिस चित्र पर बड़े बड़े धुरन्धर कवियों और लेखकों को सदयता की लेखनी चलाते संकोच होता था, उसी अभागिनी राजमाता को श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने अपनी मंजुल तूलिका से स्तुत्य रूप में सँभाल दिया है। कवि ने चित्रकूट में यथार्थतः भरत-राम-संवाद विशेष रूप से न कराकर 'कैकेयी-राम'—संवाद कराया है और माता से ही पुत्र के हृदय की उज्ज्वलता

प्रमाणित करा भरत-चरित्र को ऊर्जित किया है। 'साकेत' में महारानी कैकेयी ने अपने उद्वेग एवं सन्देह को अपने हृदय की दुर्बलता बता, राम-निर्वासन का सारा अपराध अपने ऊपर ले, अपने निर्दोष पुत्र भरत को कलंक से मुक्त कर दिया है। उस मानिनी वीर क्षत्राणी ने स्पष्ट कह दिया कि जो वरदान उसने महाराज दशरथ से माँगे थे, उनके मूल में उसका वात्सल्य-प्रेम था। रानी कैकेयी की तर्क-प्रणाली आधुनिक ढंग की है और खुले हृदय से उसने अपने चित्त का विकार धो डाला है।

पितृ-श्राद्ध आदि करने के उपरान्त जब सब समाज कुटी पर एकत्र हुआ तब श्री रामचन्द्रजी ने गम्भीर स्वर में सहसा प्रश्न किया—

हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना ?

प्रश्न को सुनकर सब समुदाय मानो स्वप्न से जाग्रत हो उठा। सब सचेत होकर भरत का म्लान मुख ताकने लगे। भरत ने उसी भाव में उत्तर दिया—

हे आर्य ! रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु तले अरण्य बसेरा—
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ मरण था मेरा,
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।

अनुचित कलंक, विषाद, वेदना, आत्मग्लानि तथा विराग की तीव्र धाराओं के अद्भुत-रस-संमिश्रण ने श्री रामजी के अन्तस से यह समाधान खींच ही लिया—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ।

श्री रामजी के वाक्य भरत को शान्तिप्रदायक वरदान और महारानी कैकेयी को शर-वेध के रूप में उतरे । रानी कैकेयी तड़प उठी और श्रीरामजी से बोली—

यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को ।
हाँ जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ ।

इस विषम शपथ की अग्नि में कौन सा कलंक-मल शेष रह सकता था ? महारानी की ऐसी भीषण वाणी सुन, सभाजन एक दूसरे की ओर ताकने लगे और कानों पर हाथ रख उन्हें बरजने लगे । परन्तु रानी का आवेग आरोह पर था, वह कम न हुआ और होता भी कैसे ? वह तो अनुताप की पहाड़ी पर से कठोर चट्टानों पर टकराता अपने रव से आकाश को कम्पित कर रहा था । रानी कहती चली—

क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासी ?
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।।
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र क्या तेरा ?
पर आज अन्य सा हुआ वत्स भी मेरा ।

थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहै, क्यों चूके ?
छीने न मातृपद, किन्तु भरत का मुझसे,
हे राम, दुहाई करूँ और क्या तुमसे ?
कहते आते थे यही अभी नरदेही—
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही'।
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता'।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिनी रानी।'
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।

वह नारी जो किसी समय अयोध्या के महल में सिंहनी रूप से गरज रही थी, आज वन प्रान्त में गोरूप धारण कर एक वत्स की रक्षा के लिए रँभा रही थी। उसके शुद्ध-हृदय-कूल से झरते हुए निर्झर ने चित्रकूट के विक्षुब्ध वातावरण को एकाएक परिवर्तित कर दिया था और ज्यों ही उसने अपने आपको धिक्कारा त्यों ही श्री रामजी कह उठे—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई—
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।

तब

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

भरतलाल सर्वसम्मति से निर्दोष घोषित कर दिये गये और उनके व्याजरूप उनकी माता भी धन्य मानी गई। परन्तु कैकेयी को क्या इससे सन्तोष हो सकता था ? भरत के कारण, पुत्र के

अर्थ वह धन्य मानी जा रही थी, न कि स्वयं निर्दोष होने के कारण। कपट गति का उल्लेख करती हुई उसकी वाग्धारा बहती चली और ज्यों ही सभा ने भरतलाल की प्रशंसा की, त्यों ही उद्वेलित-चित्त माता बोली—

हा लाल? उसे भी आज गँवाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने।
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है
शंकित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा?
... ...
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा!
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?
... ...
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि सब पर यों ही प्रकट हुआ है वैसा,
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पंकिला, पद्म कोष है मेरा।
... ...
छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही कैकयी, वही राम तुम मेरे।
... ...

कैकेयी का अनुताप, भूल-स्वीकृति, सच्ची भावना एवं निर्मल आशय देखकर श्री रामजी को विवश हो कहना पड़ा—

हे अम्ब! तुम्हारा राम जानता है सब,
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?

कैकेयी के पश्चात्ताप से श्री रामजी को जो सन्तोष हुआ था उसका आश्वासन रानी को मिल गया परन्तु अयोध्या वापिस लौटने की कोई बात उसमें न थी। तब महारानी ने श्री रामजी के अन्तःकरण के उन मृदुल तन्तुओं को हिलाया, जिनके कम्पन से हर एक हृदयधारी विकल हो जाता है।

कम्पित स्वर में रानी ने कहा—

बुझ गई पिता की चिता भरत-भुज-धारी।
पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
... ...
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सँभालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म इसे तुम पालो।
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं—
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
... ...
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता।

जिस माता ने अभी तक शासन करना ही जाना था वही जब विनीत गोमुखी गंगा बन श्री रामजी को हाथ जोड़ने लगी, तब मर्यादा-पुरुषोत्तम का हृदय कम्पित हो गया और वे तुरन्त बोले—

हा मात! मुझको करो न यों अपराधी,
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी।
... ...

माँ, अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा ?
अपने ऊपर क्या आप अद्रि ढाहेगा ?
अब तो आज्ञा की, अम्ब, तुम्हारी बारी,
प्रस्तुत हूँ मैं भी धर्म - धनुर्धृति - धारी।
वन वास लिया है मान तुम्हारा शासन,
लूँगा न प्रजा का भार, राज्य-सिंहासन ?
पर यह पहिला आदेश प्रथम हो पूरा,
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा—
जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे
मैं भी अपना व्रत-नियम निबाहूँ आगे।
निष्फल न गया माँ, यहाँ भरत का आना,
सिर माथे मैंने वचन तुम्हारा माना।

मातृत्व के उच्चासन पर अपने को पुनः प्रस्थापित देख तथा अपने अनुशासन के पूर्वाधिकार पुनः प्राप्त कर महारानी कैकेयी गर्वित मातृ हृदय से बोली—

हे वत्स, तुम्हें वनवास दिया मैंने ही,
अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही।

तब मातृ-आज्ञाकारी सत्य निष्ठ श्री रामजी ने कुलकीर्ति का सहारा ले माता से विनती की—

पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
लौटाकर वह कब, कहाँ, लिया जाता है ?
जाने दो, निर्णय करें भरत ही सारा—
मेरा, अथवा है कथन यथार्थ तुम्हारा।

श्री रामजी ने माता की आज्ञा तो शिरोधार्य कर ली परन्तु उसके तुरन्त पालन करने में महाराज दशरथ की सत्य प्रतिज्ञा

और स्वयं उनकी सत्य निष्ठा बाधक हो रही थी। उसका आश्रय लेकर वे अपने भावी कार्यक्रम का निर्णय भरतजी पर छोड़ निश्चिन्त हो गये। संभवतः उन्होंने यह सोचा हो कि कुल-कीर्ति और भविष्य के उत्थान के सम्बन्ध में महारानी कैकेयी की अपेक्षा भरतजी विशेष सोच सकते हैं, इसलिए उन्होंने निर्णय का भार भरतजी पर डाल दिया। कदाचित् श्री रामजी के चित्त में यह बात भी खटकी हो कि कहीं भरत यह न सोचने लगें कि उनकी प्रार्थना अप्रभावित रही और कैकेयी की विनती स्वीकार कर ली गई, इस कारण भी श्री रामजी ने अपने और माता के बीच भरतजी को ही निर्णायक बनाया। भरतजी वैसे ही शोकग्रस्त थे, अब एक और बड़ी आपत्ति मस्तक पर आ गई। उन्हें स्वयं अपना निर्णायक बनना पड़ा। कितना कठोर दंड था, कितना बड़ा धर्म-संकट था? आर्तमुख भरत बोले—

हा आर्य! भरत के लिए और था इतना?

इन शब्दों ने श्री रामजी के हृदय में भी खलबली मचा दी और अपनी व्यग्रता छिपाते हुए वे चट बोल उठे—

बस भाई; लो माँ; कहें और ये कितना?

यह कहकर श्री रामजी ने अपनी भोली माता को तो समझा दिया कि भरतजी भी उनसे सहमत हैं परन्तु भरत से नहीं रहा गया और वे कह उठे—

कहने को तो है बहुत दुःख से सुख से,
पर आर्य! कहूँ तो कहूँ आज किस मुख से?
तब भी तुमसे है विनय लौट घर जाओ।
... ...

'प्रभु, पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा प्रण मैं।'

यह कैसे हो सकता था ? निदान श्री रामजी ने अनुज को समझाया कि वे उनके अभिन्न-हृदय हैं, देह भिन्न होते हुए भी एकात्मा हैं। उन्हें (श्री रामजी को) अपनी उस काया से बहुत कार्य करना शेष है, अतएव भरत को चाहिए कि वे उनकी सहायता कर भार बटा लें। भरतजी ने राज्य ग्रहण करने में अपनी अयोग्यता और असमर्थता ध्वनित की तब श्री रामजी ने उन पर भ्रातृत्व का अनुशासन स्थापित किया—

तुमने मेरा आदेश सदा से माना।
हे तात ! कहो क्यों, आज व्यर्थ हठ ठाना ?
करने में निज कर्त्तव्य कुयश भी यश है।

भरत ने अपने पूज्य ज्येष्ठ बन्धु की प्रेमभरी भुजा अपने मस्तक पर पाई और उस आनन्द में विह्वल हो वे बोल उठे—

हे आर्य ! तुम्हारा भरत अतीव अवश है।
क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ ?
क्षण भर ठहरो, मैं ठगा न सहसा जाऊँ।

कवि ने इन अंतिम शब्दों में भरत-हृदय की भाव-लहरी का वह रहस्य गुम्फित कर दिया है जो समझने का विषय है, समझाने या कथन करने का नहीं। क्षण भर ठहरने के पश्चात् भरतजी ने प्रार्थना की—

जब तक पितुराज्ञा आर्य यहाँ पर पालें,
तब तक आर्या ही चलें—स्वराज्य सँभालें।

श्री रामजी को इस प्रस्ताव पर तो कोई विरोध न था किन्तु महारानी सीता उसे कैसे स्वीकर कर सकती थीं ? श्री रामजी के ऐसे ही प्रस्ताव को उन्होंने अयोध्या में ही अस्वीकृत कर दिया था। क्योंकि प्रस्ताव दुःखित-चित्त भरतजी की ओर से था इस

कारण महारानी सीताजी ने अपने देवर को बहुत सान्त्वना दी और आशीर्वाद दिया—

निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ।

अति अनुगृहीत होकर भरतजी ने प्रार्थना की कि जिस प्रकार—

तुमने मुझको यश दिया स्वयं श्री मुख से,
सुखदान करें अब आर्य बचाकर दुख से।

और हाथ जोड़ श्री रामजी से बोले—

हे राघवेन्द्र, यह दास सदा अनुयायी,
है बड़ी दण्ड से दया अन्त में न्यायी।

श्री रामजी ने आतुर होकर पूछा—

क्या कुछ दिन भी राज्य भार है भाई ?

तब विनीत भरत ने निवेदन किया कि भार वहन करने के लिए वे अधीर नहीं हो रहे किन्तु श्री चरणों का वियोग उन्हें अधीर कर रहा है। रहा राज्य-भार, सो यदि श्री रामजी की दयादृष्टि बनी रही तो राज्य-रक्षण तो उनकी पादुकाएँ ही कर सकती हैं। अन्त में भरत को कहना पड़ा—

तो जैसी आज्ञा, आर्य सुखी हों वन में,
जूझेगा दुख से दास उदास भवन में।
बस, मिलें पादुका मुझे उन्हें ले जाऊँ,
बच उनके बल पर अवधि पार मैं पाऊँ।
हो जाय अवधि-मय अवध अयोध्या अब से,
मुख खोल नाथ, कुछ बोल सकूँ मैं सबसे।

भरतजी की कातर वाणी ने सब को रुला दिया। श्री रामजी ने स्वयं रोते रोते उत्तर दिया—

रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझ से यही अपूर्व अलोभी !

श्री रामजी और भरतजी दोनों के अश्रुपात से चित्रकूट पावन हो गया। सारा वातावरण शुद्ध हो गया और—

तब सब ने जय जयकार किया मनमाना,
वंचित होना भी श्लाघ्य भरत का जाना।

३—'मानस'-प्रसंग

श्री 'रामचरित-मानस' में यह प्रसंग अपने ढंग का अनूठा और अद्वितीय है। इस वर्णन में भाषा-कवि-सम्राट् भक्त तुलसीदासजी एक अप्रतिम कलाकार के रूप में उदित हुए हैं। अयोध्या काण्ड के पूर्वार्ध के नायक श्री रामचन्द्रजी हैं और उत्तरार्द्ध के भक्त भरत। यही कारण है कि इस स्थल पर भरत-चरित्र अति मनोहर रूप में प्रस्फुटित हुआ है। कर्तव्य का मार्ग अति कठोर होता है। उसके स्तर पर कोमल पुष्पों की मृदु शय्या नहीं बिछी रहती। उस असम, दुर्गम पथ पर तलवार की धार समान तीक्ष्ण, भाले की नोक के समान नुकीले औ रवज्र के समान कठोर शिला-खण्ड बिखरे रहते हैं। भावना की तीव्र लहरें उन चट्टानों पर अपना मस्तक छिन्नभिन्न कर डालती हैं परन्तु उन्हें स्थानच्युत नहीं कर पातीं। कर्तव्य की प्रेरणा ही श्री रामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीताजी को राजपाट, धनधाम, माता-पिता और जन्मभूमि का परित्याग करा के घोर वन में खींच लाई थी। कर्तव्य की प्रेरणा से ही महात्मा भरत उसी वन से उन्हें अयोध्या बुला ले जाने के लिए स्वयं खिंचे चले आये थे। परन्तु भरत-प्रवास और प्रयास कर्तव्य की अपेक्षा भावना से विशेष ओत-प्रोत था। इसी कारण जहाँ हमें श्री रामचन्द्रजी अपने ध्येय के उच्चातिउच्च शृंग पर निश्चिन्त खड़े हुए दिखाई पड़ते हैं वहाँ दूसरी ओर भरतजी

भी आदर्श-पूर्ण भावनाओं की प्रलम्ब शिला के ऐसे नुकीले छोर पर खड़े दिखते हैं जहाँ थोड़ी सी भूल चूक या असन्तुलन उनके अस्तित्व का लोप कर सकता था। अपने अपने आदर्श एवं लक्ष्य पर दोनों भाई (श्री रामजी और भरतजी) अकम्पित एवं सजग थे। एक का ध्यान था निष्ठुर कर्तव्य की वेदी पर सर्वस्व बलिदान कर देने का और दूसरो ओर धारणा थी भायप-भक्ति के सिद्ध करने के अर्थ अपने सारे सुखों को तिलांजलि देने के अनन्त त्याग की। मस्तिष्क का हृदय से सङ्घर्ष था। यह तो उन चित्रों का एक पहलू है। इस मंगल-मिलन का दूसरा पहलू है भक्त की भावना और साधना का, जिसे कूटक रूप से अलंकृत कर, चित्रकूट के नाम को सार्थक करने का श्रेय है 'मानस' के भक्त कवि को। इस पुण्य तीर्थ के महा-सम्मेलन में तुलसीदासजी ने अनुपम रसधार प्रवाहित की है। स्थल स्थल पर कामद-गिरि के झरनों से कारुण्य प्रवाह प्रवाहित होता है। मिथिलाधिपति विदेह-राज के आगमन ने वहाँ त्रिवेणी-संगम की अपूर्व छटा उत्पन्न कर दी है। महाकवि की यह अद्भुत नवीन सूझ है। श्री जनकजी के आगमन के पश्चात् चित्रकूट की पवित्र वनस्थली में विषम विषाद रूपी मन्दाकिनी प्रबल वेग से बह निकली है। उसकी तीव्र धारा ने ज्ञान और विराग रूपी कूलों को काट दिया है। भय, शंका और भ्रम के अगाध आवर्त उसमें पड़ रहे हैं। दिग्गज बुद्धिमान् विद्वान् अपने अपने तर्क एवं युक्तिरूपी नौकाओं पर चढ़कर उस वेगवती नदी को पार करने के अभिप्राय से उसमें प्रवेश करते हैं किन्तु निराश हो शीघ्र ही किनारे पर लौट आते हैं। धारा के कलकल नाद से सारा स्थल मुखरित हो उठता है। सरिता के विस्तार और गम्भीरता का अनुभव कर आश्रम-वासी शिथिल हो जाते और पार उतरने का कोई उपाय किसी को सूझ नहीं पड़ता।

'मानस' का यह प्रसङ्ग चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम—श्री रामजी से भेंट हो जाने के उपरान्त भरत की दशा और गुरु वशिष्ठ की उक्ति। द्वितीय—भरतजी और श्री रामजी का प्राथमिक संवाद। तृतीय—जनक-आगमन और उनके चित्त पर उस वातावरण की प्रतिक्रिया। चतुर्थ—अन्तिम उद्योग और पुनरावर्तन।

(अ) भरत और गुरु वशिष्ठ

जैसे गीष्म के उत्ताप से झुलसी हुई पृथ्वी, ऊँचे आकाश में स्थित मेघमाला के दर्शन से प्रफुल्लित हो नवीन आशाओं से उत्फुल्ल हो उठती है तथा उसके प्रथम स्फुरणों के प्रसाद को अपने वक्ष में धारण कर कुछेक क्षणों को स्तब्ध हो, आस पास के वायुमण्डल को अपनी चिरवेदना के प्रखर उच्छ्वास से आकुल कर देती है, वैसा ही हाल चित्रकूट में भरतजी का हुआ। श्री रामजी के पद-पंकजों का दर्शन एवं भेंट के स्फुरण से उत्तप्त भरत के 'जी की जरनि' कुछ शान्त हुई और उस प्रथम फल को उन्होंने हृदय में धारण किया। चित्त में नवीन आशाओं का संचार हुआ, परन्तु वे स्तब्ध-से हो गये। उनकी आन्तरिक वेदना, माताओं का वैधव्य स्वरूप, उनकी दीनता, वनवासियों का मलिन वेश तथा पुरवासियों के क्लेशपूर्ण जीवन ने चित्रकूट के वातावरण को ऐसा आकुल बना दिया कि श्री रामचन्द्रजी भी अस्थिर हो उठे। उनकी वन-यात्रा तो अभी प्रारम्भ ही हुई थी। चौदह वर्ष जंगल में व्यतीत करना था। मातृभूमि अयोध्या में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासक की अनुपस्थिति उनको असह्य प्रतीत होती थी। ऐसी राजकीय परि-स्थिति उनके लोक-संग्रह कार्य में किसी भी समय बाधक हो सकती थी। इस कारण उन्होंने गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे शीघ्र ही अयोध्या वापिस जावें और सब को साथ ले जावें—

सब समेत पुर धारिय पाऊ ।
आप यहाँ अमरावति राऊ ॥

श्री रामजी के इस संकेत से सब समुदाय में खलबली मच गई। गुरुदेव के इस वाक्य से कि—

लोग दुखित दुइ दिन दरस देखि लहहिं विश्राम ।

भयभीत समाज को बड़ा आश्वासन मिल गया। परन्तु भरत के हृदय की व्यग्रता उत्तेजित हो उठी—

निसि न नीद, नहिं भूख दिन, विकल भरत सुठि सोच ।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सकोच ॥

भरत की अभीष्ट-सिद्धि का तो अभी तक सूत्रपात ही नहीं हुआ था और श्री रामजी ने सब को लौट जाने का संकेत कर दिया। गुरुदेव ने दो-चार दिन ही ठहरने की अनुमति ली थी। अभी तक तो श्री रामजी के सम्मुख राज्याभिषेक का प्रस्ताव ही उपस्थित नहीं किया गया था। कार्य की महत्ता और समय की अल्पता ने भरत को और अधिक चिन्तित बना दिया। वे सोचने लगे कि 'हृदय की बात' श्री रामजी से कब और किस रूप में कही जावे। इस प्रश्न का हल सोचते सोचते उनका मस्तक घूमने लगा, उसमें आघात-प्रत्याघात होने लगे। एक विचार आया कि पूज्य गुरुदेव की आज्ञा को श्री रामजी कभी नहीं टाल सकते। यदि महर्षि वशिष्ठ श्री रामजी से अयोध्या वापिस चलने को कहेंगे तो अवश्य कार्य सिद्धि हो जावेगी। चित्त ने पलटा खाया कि गुरुदेव कहेंगे भी ? यदि कुछ कहेंगे तो श्री रामजी का रुख देखकर—

मुनि पुनि कहब राम-रुचि जानी ।

दूसरा विचार आया कि निश्चय ही माता कौशल्या के दृढ़

वचन का उल्लंघन श्री रामजी न करेंगे। किन्तु सन्देह उपस्थित हो गया कि कैकेयी के कठोर बर्ताव के कारण—

राम-जननि हठि करब कि काऊ।

तीसरा विचार उठा कि यदि वे ही स्वयं हठपूर्वक विनय करें तो कदाचित् श्री रामजी मान जावें। चित्त ने फिर धक्का दिया—

मोहि अनुचर कर केतिक बाता।
तेहि महँ कुसमय वाम विधाता॥
जो हठ करौं तो निपट कुकर्मू।
हरगिरि तें गुरु सेवक-धर्मू॥

इस तरह अनेक उपाय सोचे परन्तु सिद्धिप्रद एक भी मान्य न ठहरा। विचार-तरंगों से आलोड़ित चित्त अशान्त और उद्भ्रांत हो उठा। सारी रात विचार-सागर में डूबते-उतराते समाप्त हो गई किन्तु विश्राम-स्थल न मिला। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त हो प्रभु को प्रणाम कर बैठे ही थे कि गुरुदेव ने बुला भेजा। उनके निवासस्थान पर सब सभासद भी आ गये। गुरुदेव तो पहले ही जानते थे कि सत्य-प्रतिज्ञ रामचन्द्रजी अयोध्या वापिस जानेवाले नहीं और उनके वापिस जाने से वह संसार हित—जिसके लिए उन्होंने वनवास स्वीकृत किया था—नितान्त अपूर्ण रह जावेगा इसलिए उस बात पर जोर देना भी उचित नहीं। श्री रामजी का रुख तो उन्हें भासित ही हो चुका था—यदि वे सीधा सीधा कह देते तो भरतजी, रानियों और पुरवासियों को एक भयानक ठेस लगती, इसलिए बड़ी सावधानी और चतुराई से उपस्थित समुदाय को उन्होंने यह बात जँचाई—

नीति, प्रीति, परमारथ, स्वारथ।
कोउ न राम सम जान यथारथ॥
... ...

राखे राम-रजाय रुख हम सब कर हित होय।
समुझि सयाने करहु अब, सब मिल सम्मत सोय ॥

लम्बी चौड़ी भूमिका के पश्चात् गुरुदेव बोले—

सब कहँ सुखद राम-अभिषेकू।
मंगल-मूल मोद मग एकू ॥
केहि विधि अवध चलहिं रघुराई।
कहहु समुझि, सोइ करिय उपाई ॥

भरी सभा में यह प्रश्न उपस्थित कर गुरुदेव ने मौन धारण कर लिया। सभा में सन्नाटा छा गया। सबको चुपचाप देखकर और गुरुदेव का संकेत अपनी ओर समझ भरतजी ने सविनय उत्तर दिया—भगवन्! सूर्यवंश के आप गुरु हैं। इस वंश पर आपकी कृपा की अमिट छाप है। अपने तपोबल से आप विधाता की रेख पर मेख मार सकते हैं। आपके निश्चय और आपकी आज्ञा को कोई टाल नहीं सकता। ऐसे शक्तिशाली होकर जब मुझ जैसे दीन से उपाय पूछते हैं, तो यह मेरा दुर्भाग्य ही है।

भरत के ऐसे दीन वचन सुन गुरुदेव भी द्रवित हुए और बोले—

सकुचौं तात कहत इक बाता।
अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाता ॥
तुम कानन गवनहु दोउ भाई।
फिरहहिं लखन सीय रघुराई ॥

अन्धा क्या चाहे, दो आँखें। गुरुदेव के शब्द सुनकर और उस महत् समस्या का ऐसा सरल हल पाकर भरतजी का मन तो ऐसा प्रसन्न हो गया मानो मृतप्राय को सजीवनि मूरि मिल गई हो।

विवर्ण-मुख हर्ष से चमक उठा और उन्हें ऐसा भासित होने लगा मानों मृत पिताजी गुरुदेव के रूप में जीवित हो उठे हों एवं उन्होंने श्री रामजी को राज्यासन और भरत को निर्वासन की आज्ञा दी हो। भरत का संकल्प मुखरित हुआ—

कानन करउँ जनम भरि वासू।
इहि तें अधिक न मोर सुपासू॥
अंतरयामी राम-सिय तुम सर्वज्ञ सुजान।
जो फुर कहहु तो नाथ निज कीजिय वचन प्रमान॥

महर्षि वशिष्ठ ने जो युक्ति भरत को सुझाई थी, वह उनकी परीक्षा लेने के हेतु कही हो अथवा वह गुरुदेव की विचार-धारा की ही चमत्कृति हो, भरतजी के उत्तर ने अवश्य गुरुदेव और उपस्थित समाज को चकित कर चक्कर में डाल दिया। वे तो चौदह वर्ष क्या, आजन्म वनवासी रहने को प्रस्तुत थे। उनकी कपट-हीनता का और क्या प्रमाण शेष रहा? गुरुदेव असमंजस में पड़ गये। युक्ति सोची थी भरत की प्रेम-परीक्षा लेने को, किन्तु भासित होने लगी गुरुदेव को अपनी ही हीनता। भावना के सम्मुख तर्क या उक्ति ऊँचा सिर करके खड़ी न रह सकी। गुरुदेव का संकोच देखकर भक्त तुलसीदास को कहना पड़ा—

भरत महा-महिमा जलरासी।
मुनि-मति तीर ठाढ़ अबला-सी॥
गा चह पार यतन बहु हेरा।
पावत नाव न बोहित बेरा॥

अब गुरुदेव को विदित हुआ कि भरत की पवित्र प्रेम-भावना साधारण या दिखावटी नहीं। वह समुद्र की अनन्त जलराशि के समान विस्तृत और अगाध है। उसकी महत्ता और गम्भीरता

नापी नहीं जा सकती। उसकी थाह नहीं ली जा सकती। अब ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने भरत-हृदय को पहिचाना। अब उनका 'सूर्य-कुल-गुरु-गर्व' (जिसका उल्लेख साकेतकार ने पहिले किया है) सार्थक हुआ। भरतजी ने गुरुदेव के हृदय में अब निश्चित स्थान पाया और वे भी उनकी सहायता करने को तत्पर हुए। गुरुदेव तुरन्त ही भरतजी को साथ लेकर श्री रामजी के वास-स्थान पर गये और देश-काल-समयानुसार बोले—

सुनहु राम सर्वज्ञ सुजाना।
धर्म-नीति-गुण-ज्ञान-निधाना॥

सबके उर अन्तर बसहु जानहु भाव कुभाव।
पुरजन जननी भरत हित होय सो करिय उपाव॥

ऐसे वचन गुरुदेव ने श्री रामजी से अभी तक कभी न कहे थे। वन-यात्रा के समय यदि वे कोई टेक लगा देते तो अयोध्या का विप्लव ही घटित न होता; अथवा चित्रकूट में आते ही भरत-हृदय की साक्षी दे, श्री रामजी को आगे बढ़ने से रोक देते तो न मालूम राम-कथा किस रूप में प्रकट होती ? सम्भव है, कविगण 'रामायण' न लिखकर 'भरतायण' लिखते। न गुरुदेव भरतजी की परीक्षा लेते और न भरत की धर्म-प्रवणता और प्रेम-प्रतीति का परिचय संसार पर प्रकट होता। भरत के निर्विकार हृदय और निर्लेप प्रेम ने ही, गुरुदेव द्वारा, उनका अभीष्ट श्री रामजी के सम्मुख उपस्थित करा दिया। श्री रामजी गुरुदेव के अभीष्ट को और गुरुदेव श्री रामजी के संकल्प को पहिले ही से जानते थे। इस कारण गुरुदेव ने अपनी संकटावस्था से पार होने का उपाय स्वयं निर्णीत न कर श्री रामचन्द्रजी के ऊपर छोड़ दिया और साथ ही यह भी कह दिया—

आरत कहहिं विचार न काऊ।
सूझ जुआरिहिं आपन दाऊ॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम को उत्तर में विलम्ब क्या था? तुरन्त बोले—'हे नाथ, इसका उपाय तो आप के ही हाथ है। आप जिसको जो आज्ञा देंगे वह सहर्ष उसका पालन करेगा।' वे आगे कहते ही क्या? तब गुरुदेव बोले—

कह मुनि राम सत्य तुम भाखा।
भरत-सनेह विचार न राखा॥
तेहि ते कहौं बहोरि बहोरी।
भरत भक्ति वश भै मति भोरी॥
मोरे जान भरत-रुचि राखी।
जो कीजिय सो शुभ शिव साखी॥

भरत-विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधु-मत लोकमत, नृप नय निगम निचोरि॥

इस जोरदार अपील में गुरुदेव ने श्री रामजी से सभी कुछ कह दिया। बाह्य रूप में तो इन शब्दों में पाँच मुख्य संकेत हैं परन्तु इनके अन्तरंग में अथ से इति तक की सूचना गर्भित है। पहिले संकेत में तो यह दरसाया कि भरतजी आपके अनुज हैं, निष्कपट हैं, अनन्य भक्त हैं। छोटे का अधिकार है कि वह हठ करे और बड़े का दायित्व है कि यथासाध्य वह लघु बन्धु के मन को अप्रसन्न न करे। गुरुदेव ने यह भी सूचित कर दिया कि वे भरत की पूर्ण परीक्षा ले चुके, इस कारण उनके चित्त को दुखाना श्रेयस्कर नहीं। इसी हेतु श्री शंकरजी की शपथ लेकर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने श्री रामजी को स्पष्ट कह दिया कि वे भरत-विनय का आदर अवश्य करें, उसे इक दम टाल न दें, उस पर मनन करें।

तत्पश्चात् जो निर्णय करें वह साधुमत, लोकमत, राजनीति-पूर्ण और शास्त्रानुकूल हो। साधुमत आदर्श का पूजक होता है, लोक-मत मर्यादा का। राजनीति समाज की और शास्त्र, धर्म की रक्षा करता है। 'मानस' में 'भरत-राम-संवाद' की तालिका उपर्युक्त दोहे में गर्भित है।

गुरुदेव की भरतजी के ऊपर इतनी अधिक कृपा और श्रद्धा देखकर श्री रामजी ने उत्तर दिया—

नाथ शपथ पितु चरण दोहाई।
भयउ न भुवन भरत सम भाई॥
राउर जापर अस अनुरागू।
को कहि सकै भरत कर भागू॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई।
करत बदन पर भरत बड़ाई॥
भरत कहहिं सो किये भलाई।
अस कह राम रहे अरगाई॥

श्री रामजी अधिक न कह सके। उनको एकाएक चुप हो जाते देख—

तब मुनि बोले भरत सन सब सकोच तजि तात।
कृपासिन्धु प्रिय बन्धु सन कहहु हृदय की बात॥

(ब) भरत-राम-संवाद

हृदय की बात

What stronger breast plate—
Than a heart untainted (Shaks.)

भरत भये ठाढ़े कर जोरि।
ह्वै न सकत सामुहै सकुच बस समुझि मातु कृत खोरि॥

फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलप कुटिलता मोरि।
हृदय सोच, जल भरे विलोचन, नेह देह भइ भोरि।।
बनवासी, पुरलोग, महामुनि किये हैं काठि से कोरि।
दै दै श्रवन सुनिबे को जहँ तहँ रहे प्रेम बन बोरि।।
तुलसी राम-सुभाव सुमिरि उर धर धीरजहिं बहोरि।
बोले वचन विनीत उचित हित करुना रसहिं निचोरि।।
(गीतावली)

महामुनि वशिष्ठ की आज्ञा पाकर प्रभु का रुख देख, अपने ही सिर भार समझ, भरतजी खड़े हुए और कहने लगे—

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा।
यहि ते अधिक कहौं मैं काहा।।
मैं जानौं निजनाथ स्वभाऊ।
अपराधिहुँ पर कोह न काऊ।।
मो पर कृपा सनेह बिसेखी।
खेलत खुनस कबहुँ नहिं देखी।।
शिशुपन तें परिहरेउँ न संगू।
कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।।
मैं प्रभु कृपा-रीति जिय जोही।
हारेहु खेल जितावहिं मोही।।

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन।
दर्शन-तृप्त न आजु लगि प्रेम-पियासे नैन।।

विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा।
नीच बीच जननी मिसु पारा।।
इहाँ कहत मोहि आजु न शोभा।
आपुनि समुझि साधु शुचि को भा।।

मातु मन्द मैं साधु सुचाली।
उर अस आनत कोटि कुचाली॥

'हे देव, माता को दोष देकर अपना सत्कृत्य बखान करना अथवा माता को मन्दभागिनी मूर्खा कहकर अपनी साधुता और सच्चरित्रता प्रमाणित करना, धूर्तता है। अतएव किसी को दोष न देकर मैं यही कहना चाहता हूँ कि—

मोर अभाग - उदधि अवगाहू।

'उपस्थित दृश्य मेरे ही पापों का कटु परिणाम है। सब उत्पात और अनर्थ का मूल मैं ही हूँ। मुझे यह कष्ट भोगना ही चाहिए। अपने उद्धार का मुझे कोई मार्ग नहीं सूझता। मैं चारों ओर से निराश हो चुका हूँ। भगवन्, अब तो मुझे केवल गुरुदेव और आपकी कृपा का आश्रय है। एक तो यहाँ सत्पुरुषों का समाज एकत्रित है, दूसरे गुरुदेव और प्रभु सामने हैं, तीसरे पवित्र स्थल है। ऐसे समागम में जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह सत्य है किंवा असत्य, प्रेमपूरक है अथवा प्रपंच-मूलक, यह तो आप दोनों जान सकते हैं। गुरुदेव ने मेरी प्रीति का उल्लेख किया, यदि उसकी डींग हाँकूँ तो वह भी निरर्थक है। प्रेम का प्रमाण तो परम प्रतापी पिताजी ने दिया। यदि मेरा स्नेह सच्चा होता तो मैं अपनी माता की कुटिलता, अन्य माताओं का विलाप और पुर-जनों का दुःसह दुःख देखता हुआ अब तक जीवित ही क्यों रहता? आपका वनवास सुनकर और यह जानते हुए कि आप नंगे पैर पैदल यात्रा कर रहे हैं, मेरी छाती कभी की फट गई होती। मेरे हृदय की कठोरता का और क्या प्रमाण चाहिए?

जिनहिं निरखि मग सॉंपिनि बीछी।
तजहिं विषम विष तामस तीछी॥

ते रघुनन्दन लखन सिय अनहित लागे जाहि ।
तासु तनय तज दुसह दुख दैव सहावै काहि ॥'

भरतजी की ऐसी आर्त, विनय, नीति और प्रीतियुक्त वाणी सुनकर सब सभा स्तब्ध हो गई । श्री रामजी ने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा—

तीन काल त्रिभुवन मत मोरे ।
पुण्यश्लोक तात कर तोरे ॥
उर आनत तुम पर कुटिलाई ।
जाय लोक परलोक नसाई ॥

मिटहिं पाप परपंच सब अखिल अमंगल भार ।
लोक सुयश परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार ॥

कहौं स्वभाव सत्य शिव साखी ।
भरत भूमि रह राउर राखी ॥

श्री रामजी के हृदय से उद्भूत ये शब्द भरत के लिए पीयूषवत् सिद्ध हुए । यह प्रेम-वाणी सूचित कर रही थी कि संसार की स्थिति धर्म पर है । यदि धर्म का लोप हो जाय या उसमें विक्षेप उत्पन्न हो जाय तो संसार का अन्त हो जायगा । धर्म-नियन्ता श्री रामचन्द्रजी धर्म-प्राण भरत को यही दरसा रहे थे कि भक्त चाहे तो भगवान् के आसन को भी हिला सकता है । परन्तु उसका ऐसा करना संसार-हित के लिए श्रेयस्कर नहीं । "ईश्वर सत्य और सत्य ईश्वर है" । अतएव सत्य का पालन करने के निमित्त, भक्त अपने प्रभु को ऐसी परिस्थिति में कदापि न डालेगा जिसके कारण उस सत्य-नियम की अवहेलना सम्भव हो । सत्य ही परम धर्म है, उसके पालन के हेतु बड़े से बड़ा त्याग भी अल्प है ।

'हे भरत, तुम सर्वथा निर्दोष हो, तुम चाहो तो ही पृथ्वी रक्षित रह सकती है, अन्यथा नहीं।' श्री रामजी के ये अनमोल वचन इस अर्थ को भी इंगित कर रहे थे कि 'हे भरत, यदि तुमने अयोध्या का राज्य न सँभाला और किसी दूसरी सत्ता ने उस पर अधिकार जमा लिया तो मातृभमि नष्ट भ्रष्ट हो जावेगी अथवा यदि तुमने मुझे अयोध्या वापिस लौटने को बाध्य किया तो निशाचरों का वध न हो सकेगा और उनके उत्पीड़न से पृथ्वी रसातल को चली जावेगी। हे भरत—

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम प्रण लागी॥
तासु वचन मेटत मन सोचू।
तेहि ते अधिक तुम्हार सकोचू॥
... ...
तापर गुरु मोहिं आयसु दीन्हा।
अवसि जो कहहु चहौं सो कीन्हा॥

मन प्रसन्न करि, सकुच तजि, कहहु करौं सो आज।

खिन्न चित्त से नहीं, शंकित हृदय से नहीं, लोकलाज अथवा अन्य किसी भय से नहीं, किन्तु शान्ति और धर्मपूर्वक विचार कर जो कहोगे वही मैं अभी करने को प्रस्तुत हूँ। भक्तवत्सल भगवान् की अपने भक्तों के प्रति सदा यह 'वानि' रही है। भक्तों की प्रसन्नता और उनके चित्त की शान्ति के लिए भगवान् अपना प्रण तक त्यागने को तत्पर हो जाते हैं। महाभारत संग्राम में भगवान् कृष्ण ने शस्त्र न धारण करने का प्रण किया था। युद्ध-स्थल में उन्हें अर्जुन का सारथित्व करते देख महात्मा भीष्म पितामह ने भी प्रण कर डाला—

आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तो हौं हूँ गंगा जननी को शान्तनु-सुत न कहाऊँ॥
... ...
इती न करौं शपथ मोहि हरि की क्षत्रिय-गतिहि न पाऊँ॥
(सूर०)

अपने भक्त के प्रण की रक्षा के निमित्त भगवान् को अपना प्रण त्याग, रथ का चक्र उठा, भीष्मजी पर प्रहार करने दौड़ना पड़ा। भक्त-वत्सल श्री रामजी ने भी अपने प्रण के निर्वाह करने का भार भक्त भरत की सदाशयता पर छोड़ दिया। उनको भरोसा था कि धर्मवीर भक्त उन्हें किस ओर ले जावेगा और हुआ भी वही।

निज सिर भार भरत जिय जानी।
करत कोटि विधि उर अनुमानी॥
कर विचार दीन्हेउ मन टीका।
राम-रजायसु आपन नीका॥

सब प्रकार से श्री रामजी का अनुग्रह देख दोनों हाथ जोड़ भरत दिव्य वचन बोले—

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी।
कृपा-अम्बु-निधि अन्तरयामी॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला।
मिटी मलिन मन कल्पित शूला॥
... ...
अब करुणाकर कीजिय सोई।
जन-हित प्रभु-चित छोभ न होई॥
... ...

जो सेवक साहिबहि सँकोची।
निज हित चहै तासु मति पोची।।

निश्चिन्त होकर भरतजी ने प्रार्थना की—

हे देव, एक विनती है—हम सब राज्याभिषेक की सामग्री साथ लाये हैं। यदि आप ठीक समझें तो उसे सफल कीजिए। आप मुझे और शत्रुघ्न को वन में भेजकर सनाथ कीजिए या लक्ष्मण और शत्रुघ्न को अयोध्या भेजकर मुझे अपनी सेवा में ले चलिए। अथवा हम तीनों भाई वन-यात्रा करें और महारानी सीता सहित आप अवध वापिस जावें। जैसा भी आप उचित समझें वैसा करें।

जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई।
करुणा-सागर कीजिय सोई।।
देव दीन्ह सब मोपर भारू।
मोरे धर्म न नीति-विचारू।।
कहौं वचन सब स्वारथ-हेतू।
रहत न आरत के चित चेतू।।
प्रभु-पद-शपथ कहौं सतभाऊ।
जग-मंगल-हित एक उपाऊ।।

श्री रामजी ने भरत को आश्वासन देकर कहा था—

मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सो आज।

भरतजी ने उसी भावना से श्री रामजी से निवेदन किया—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जिहि आयसु देव।
सो सिर धरि धरि करहि सब मिटहि अनट अवरेव।।

भावना कर्तव्य में और कर्तव्य भावना में परिणत हो गया। जिन शब्दों में श्री रामजी ने कर्तव्याकर्तव्य का भार भरतजी के निर्णय पर छोड़ा था, धर्मधुरीण भरत ने उन्हीं शब्दों और भावनाओं से

पूर्ण भार श्री रामजी के चरणों में पुनः अर्पित कर दिया। दोनों ओर प्रेममय कर्तव्य मूर्तिमान् हो गया। उसी समय समाचार मिला कि महाराज मिथिलेश आ रहे हैं। इस कारण सभा की कार्यवाही स्थगित हो गई। बात जहाँ की तहाँ रह गई।

(स) महाराज जनक और भरत

चित्रकूट में श्री मिथिलाधिपति का रनिवास सहित आगमन, मानस के कवि की निजी कल्पना है। विदेहराज की उपस्थिति से इस पवित्र सम्मेलन में और भी गम्भीरता तथा मृदुता आ गई है। जब महारानी कैकेयी के कुचक्र का समाचार मिथिला पहुँचा, तब जनकराज बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने स्वयं अयोध्या जाना उचित न समझा; क्योंकि महाराज दशरथ ने प्रस्तावित रामाभिषेक की कोई सूचना या निमंत्रण उन्हें नहीं दिया था। वस्तुस्थिति जानने के अभिप्राय से महाराज जनक ने अपने विश्वासपात्र गुप्त-चर वहाँ भेजे। उन दूतों ने भरतजी की गति-विधि अपनी आँखों देखी और ज्योंही भरतजी चित्रकूट को रवाना हुए, वे लोग तिर-हुत को वापिस गये। उन्होंने सब हाल जनकराज को सुनाया। उनकी मानसिक विचार-धारा की कल्पना, 'साकेत सन्त' के कवि ने की है। महाराज जनक ने सोचा—

अवध में हुई एक जो भूल,
व्यथित है उससे लोक-समाज।
कहीं वन में न दूसरी भूल,
गिरे सबके सिर बनकर गाज।
... ...
सुना है चारों अवध - कुमार,
परस्पर रखते हैं शुचि प्यार।
किन्तु क्या क्या न यहाँ कर सका,
मान, धन, धरती का अधिकार ?

करूँगा यत्न कि जिससे बन्धु,
बन्धु के प्राण न लेवे छीन।
किन्तु यदि युद्ध हुआ अनिवार्य,
राम ही क्यों हों सैन्य-विहीन ?

जो भी कारण हों, महाराज जनक ने राजधानी में बैठे रहना उचित न समझा और जब वे चित्रकूट पहुँचे तब—

भरत को एक दृष्टि से देख
सत्य का किया सत्य अनुमान।
सुना कैकेयी - पश्चात्ताप
हुए वे मन में मुदित महान।

चित्रकूट में अवध की राजमाता देवी कौशल्या और मिथिलेश्वरी सुनयना के बीच जो बातचीत हुई वह उल्लेखनीय है। परस्पर कुशल समाचार और सत्कारादि के उपरान्त माता कौशल्या ने रानी सुनयना से कहा—

लखन राम सिय जाहिं वन भल परिणाम न पोच।
गहवर हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोच॥

राम शपथ मैं कीन्ह न काऊ।
सो करि सखी कहौं सतभाऊ॥
भरत शील गुण विनय बड़ाई।
भायप भक्ति भरोस भलाई॥
कहत शारदा की मति हीची।
सागर सीपि कि जाय उलीची॥ (मानस)

इस असाधारण रूप में भरथ-गाथा कहने की आवश्यकता माता कौशल्या को जिस विशेष कारण से प्रतीत हुई, वह उन्होंने यों प्रकट किया—

रानि, राय सों अवसर पाई।
आपनि भाँति कहब समुझाई॥
राखिय लखन भरत गवनहिं बन।
जो यह मत मानें महीप-मन॥
तो भल यतन करब सुविचारी।
मोरे सोच भरत कर भारी॥

माता कौशल्या को अपने प्रिय पुत्र की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी भरत की हो रही थी। राजकुल की स्त्रियाँ साधारणतः इस चिन्ता की गहराई का अनुमान न लगा सकती थीं, इस कारण उस विषय पर सुनयनाजी को विशेष लक्ष्य दिलाने के लिए कौशल्याजी ने प्राणप्रिय पुत्र की शपथ ली। कदाचित् उनके कथन से कोई यह तात्पर्य न निकालने लगे कि भरत के कारण राम-वनवास हुआ इसलिए श्री रामजी के साथ साथ भरतजी भी दण्ड-स्वरूप वन को जावें और जिस प्रकार श्री रामजी राज्य से च्युत कर दिये गये हैं, उसी प्रकार भरत भी च्युत कर दिये जावें, इस तरह की शंकाओं की निवृत्ति के अर्थ देवी कौशल्या ने पुत्र-शपथ ली और अपना हृदय खोलकर रख दिया—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।
रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥

स्पष्ट है कि माता कौशल्या को भरतजी की गति-विधि देख कर भय हो गया था कि वे श्री रामजी का वियोग सहन न कर सकेंगे और श्री रामजी का वनवास कदाचित् भरत के जीवन का ग्राहक न बन बैठे। इस कारण कौशल्याजी ने बारम्बार रानी सुनयना से बिनती की कि वे मिथिलेश के कानों में यह बात डाल दें और महाराज से स्वतः ऐसा आग्रह करें जिससे भरतजी अपने अग्रज

के सहकारी बन उनके साथ ही साथ रहें और लक्ष्मण अयोध्या वापिस लौट जावें।

महारानी सुनयना ने उपयुक्त अवसर पाकर महाराज जनक से भरत-गति का मधुर वर्णन किया, जिसे सुनकर विदेह भी विह्वल हो गये। कुछेक देर में जब वे स्वस्थ हुए तब भरतजी के सुन्दर, सुगन्धित और सुधा-समान उज्ज्वल एवं पवित्र यश की प्रशंसा करते हुए बोले—

सावधान, सुनु सुमुखि सुलोचनि !
भरत-कथा भव - बंध-विमोचनि ॥
धरम, राज-नय, ब्रह्म-विचारू।
इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोर भरत-महिमाहीं।
कहौं काह छलि छुवत न छाँहीं॥
... ...

भरत-चरित कीरति करतूती।
धरम शील गुन विमल विभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू।
सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

भरत-चरित्र ही ऐसा है, गंगा की निर्मल धारा के समान पवित्र, अमृत से भी अधिक मधुर तथा जीवनप्रद। जब धर्मतत्त्व, राजनीति और तत्त्वज्ञान-विशारद विदेहराज उस महिमा की छाया नहीं छू सकते तो अन्य अल्पज्ञों की क्षमता ही क्या है जो उसका वर्णन कर सकें। जनकजी ने भरत-सम्बन्ध का अपना अन्तिम निर्णय रानी सुनयना को सुनाया—

निरवधि गुन अनुपम पुरुष भरत भरत सम जान।
भरत अमित महिमा सुन रानी!
जानहिं राम, न सकहिं बखानी॥
देवि परन्तु भरत-रघुवर की।
प्रीति प्रतीति जाय नहिं तरकी॥
भरत-सनेह-अवधि ममता की।
यद्यपि राम सींव समता की॥
साधन, सिद्धि राम-पद-नेहू।
मोहिं लख परत भरत-मत एहू॥

भरतजी की गति श्री रामजी जानते हैं। दोनों का सम्बन्ध अटूट है। उनका प्रेम तर्क से परे है। श्री रामजी वही करेंगे जो भरतजी चाहेंगे और भरतजी भी वही करेंगे जो रामजी के मन में होगा।

भोरेहु भरत न पेलहहिं मनसहु राम-रजाय।
करिय न सोच सनेह-बस कहेउ भूप बिलखाय॥

भक्त और भगवान् के बीच ब्रह्मवादियों का हस्तक्षेप अनुचित तथा निरर्थक समझ, महाराज जनक ने इस विषय में श्री रामजी से कुछ कहना ठीक न समझा और रानी सुनयना को आश्वासन दिया कि भरतजी स्वप्न में भी रामाज्ञा की अवज्ञा न करेंगे। भरतजी की भक्ति ने विदेहराज को भी हिला दिया।

वहाँ अपने स्थान पर भरतजी बहुत कुछ निश्चिन्त थे। दिन पर दिन व्यतीत होते जा रहे थे परन्तु क्या अयोध्यावासी, क्या तिरहुत-निवासी कोई भी वापिस जाने का नाम न लेता था। वनवास द्वारा जो कार्यारम्भ श्री रामजी ने किया था उसमें व्याघात उत्पन्न होते देख वे (श्री रामजी) गुरु देव के पास गये। उन्होंने विनती की—

नाथ, भरत पुरजन महतारी।
सोच-विकल बनवास दुखारी॥
सहित समाज राउ मिथिलेशू।
बहुत दिवस भे सहत कलेशू॥
उचित होय सो कीजिय नाथा।
हित सब ही कर रौरे हाथा॥

निस्सन्देह सबके हित की कुंजी तो गुरुदेव के हाथ में ही थी। उनका आदेश कोई टाल न सकता था। महर्षि वशिष्ठ ने श्री रामजी को समझाकर कुटी में भेजा और आप मिथिलेश के डेरे पर गये। श्री रामजी का निर्देश जनकजी को सुनाया और उनसे कहा—

महाराज अब कीजिय सोई।
सब कर धर्म सहित हित होई॥

ज्ञान-निधान सुजान शुचि धर्मधार महिपाल।
तुम बिन असमंजस-समन को समरथ यहि काल॥

स्वतः अपना, श्री रामजी का तथा भरतजी और सब लोगों का असमंजस दूर करने की अपनी असमर्थता प्रकाशित करते हुए ज्ञानी गुरुदेव ने जनकजी का आश्रय ताका। गुरुदेव गये तो थे इस हेतु कि विज्ञानवेत्ता, राज एवं धर्म नीति के जाननेवाले, प्रभावशील महाराज जनक कोई 'धर्मयुत' समाधान उपस्थित समस्या का निकाल देंगे, परन्तु जिस कार्य में जनकजी बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे, उसी में जब गुरुदेव वशिष्ठ ने उन्हें भी समेटना चाहा तब जनकजी चिन्ताग्रस्त हो गये। उनकी गति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। उन्हें अपने एक ओर गहरी खाई और दूसरी ओर समुद्र दिखाई देने लगा। वे सोचने लगे कि चित्रकूट में आकर उन्होंने भूल की। न वे चित्रकूट आते, न इस उलझन में पड़ते। वे सोचने लगे कि महाभाग महाराज दशरथ ने तो

श्री रामजी को महलों से वन में भेज अपने सत्य का पालन किया तथा उस विछोह में प्राणों की आहुति दे अपने प्रेम-प्रण का निर्वाह किया, परन्तु उनके समक्ष तो कोई ऐसा प्रसंग नहीं। यदि श्री रामजी को अयोध्या वापिस जाने को कहते हैं तो स्वर्गवासी महाराज दशरथ तथा उनके इक्ष्वाकुवंश की प्रतिष्ठा में धक्का लगता है और यदि श्री दशरथजी के वचनों का अनुमोदन किया जाता है तो उसका अर्थ होता है श्री रामजी को चित्रकूट वन से दूर वन में भेजना। इस तरह—

अब हम बनते बनहिं पठाई।
प्रमुदित फिरब विवेक बढ़ाई॥

यदि धर्मपथ पर चलते हैं तो संसार में हँसी होगी कि भले विवेकी जनक हैं जिन्होंने अपने दामाद को वन से वन में जाने का निर्णय दिया। यदि श्री रामजी से अयोध्या लौटने को कहा जाता है तो धर्म-मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। निदान अपना कोई मत निश्चित न कर मिथिलेश ने इस कठिनाई का निर्णय भरतजी से ही कराना शुभ और श्रेयस्कर माना। महर्षि वशिष्ठ अपनी हीनता स्वीकार ही कर चुके थे, ब्रह्मवादिनी बुद्धि ने भी भक्त की भावना के सम्मुख मस्तक झुका दिया। फिर राजा जनक-गुरु वशिष्ठ, मुनिराज विश्वामित्र तथा अन्य सज्जनों को साथ लेकर भरतजी के पास गये। भरतजी ने सबका यथोचित आदर-सत्कार किया। आसन ग्रहण करने पर जनकजी ने भरतजी से कहा—

तुमहिं विदित रघुवीर-सुभाऊ।
राम सत्यव्रत धर्मरत सब कर शील-सनेहु।
संकट सहत सकोचबस कहिय जो आयसु देहु॥

तीर ठिकाने पर लगा। भरतजी भक्त के नाते अपने स्वामी का सङ्कट कैसे सह सकते थे? तुरन्त ही अधीर होकर बोले—

प्रभु प्रिय पूज्य पिता-सम आपू।
कुलगुरु सम हित माय न बापू॥
कौशिकादि मुनि सहित समाजू।
ज्ञान-अम्बुनिधि आपुन आजू॥
शिशु सेवक आयसु अनुगामी।
जानि मोहिं शिष देइय स्वामी॥
... ...
राखि रामरुख (१) धर्मव्रत (२) पराधीन (३) मोहि जान।
सबके सम्मत (४) सर्वहित (५) करिय प्रेम पहिचान॥

गुरुदेव ने पूर्व में जो शब्द श्री रामजी से कहे थे कि वे जो कुछ करें वह 'साधु-सम्मत' तथा 'लोक-हितकारी' हो, उन्हीं की दुहाई देते हुए भरतजी ने भी पंच सिद्धान्त-युक्त प्रश्न को श्री जनकजी के सम्मुख रख दिया। भरतजी की सरल किन्तु अद्भुत रहस्यमयी वाणी (जो कहने में संक्षिप्त परन्तु अर्थ में गूढ़ थी) सुनकर सब लोग विस्मित हो चुप रह गये। किसी की सामर्थ्य कोई निपटारा करने या सुझाने की नहीं हुई और सबने यही मन्तव्य किया कि सारा समुदाय श्री रामजी के पास चले।

(द) अन्तिम उद्योग

निदान श्री रामजी की कुटी के पास, प्रांगण में, इस महासभा का महाधिवेशन प्रारम्भ हुआ। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। अयोध्या राज्य का, राजकुमार भरत का, पुरवासियों और राजमाताओं का, आर्यादर्शों का एवं भारत के भाग्य का निपटारा होनेवाला था। सभी चिन्तित और गम्भीर थे। सब से प्रमुख नेता ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने काल, देश, धर्म तथा परिस्थिति का ध्यान रखते हुए श्री रामजी को भरत-जनकसंवाद सुनाया। तदनन्तर अपनी ओर से कहा—

तात राम जस आयसु देहू।
सो सब करैं सत्य मत येहू॥

गुरुदेव आज्ञा माँगें और शिष्य से? मर्यादा के परम रक्षक श्री रामजी ने तुरन्त हाथ जोड़कर सत्य सरल कोमल शब्दों में निवेदन किया—

विद्यमान आपुन, मिथिलेसू।
मोर कहा सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई।
राउर शपथ रही सिर सोई॥

'जो आज्ञा आप (गुरुदेव) या महाराज जनक देंगे वही मान्य होगी। गुरुजनों की उपस्थिति में मेरा कुछ भी कहना शोभनीय नहीं।' यह कहकर श्री रामजी ने विनत भाव और बड़ों के समादर की हद कर दी। गुरुदेव, जनकजी की ओर और जनकजी, गुरुदेव की ओर ताकने लगे। बाकी लोग इन दोनों की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे। जब दोनों में से किसी को कोई उत्तर न सूझा तब दोनों के नेत्र भरतजी की ओर मुड़ गये। जनता की दृष्टि उसी ओर जा लगी। अपने मुख पर सबके नेत्र गड़े हुए देख भरत ने अपने धैर्य को सँभाला, कुसमय जान अपनी प्रेम भावना को मर्य्यादित किया तथा युग कर जोड़ सबको प्रणामकर, श्री राम-जानकी की ओर नमनकर, ध्यानावस्थित अवस्था में खड़े होकर विवेक-धर्म-नीति-युक्त वचन कहे—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी।
पूज्य परमहित अन्तरयामी॥
सरल सुसाहिब शील-निधानू।
प्रणतपाल सर्वज्ञ सुजानू॥
... ...

स्वामि गुसाइहिं सरिस गुसाईं ।
मोहिं समान मैं स्वामि दुहाई ॥
प्रभु-पितु-वचन मोह बस पेली ।
आयउँ यहाँ समाज सकेली ॥
राम रजाय मेटि मन माहीं ।
देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥
सो मैं सब विधि कीन्ह ढिठाई ।
प्रभु मानी सनेह-सेवकाई ॥

कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूषण भे भूषण सरिस सुयश चारु चहुँ ओर ॥
... ...

देखेउ आय सुमंगल-मूला ।
जानिउ स्वामि सहज अनुकूला ॥
... ...

राखा मोर दुलार गुसाईं ।
अपने शील स्वभाव भलाई ॥
... ...

प्रभु-पद-पद्म-पराग दुहाई ।
सत्य-सुकृत-सुखसींव सुहाई ॥
सो करि कहौं हिये अपने की ।
रुचि जागत सोवत सपने की ॥
सहज सनेह स्वामि सेवकाई ।
स्वारथ छल फल चारि विहाई ॥

आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा ।
सो प्रसाद जन पावै देवा ।।

'हे देव, निस्वार्थ और निष्कपट भाव से तथा फल की इच्छा से रहित हो, आपकी सेवा करता रहूँ। स्वामी की आज्ञा का पालन करने के बराबर दूसरी कोई सेवा नहीं। हे प्रभु ! यह दास उस अनुग्रह (सेवा) का पात्र बना रहे। ऐसी कृपा कीजिए कि आपके दास की यही सच्ची धारणा और भावना बनी रहे।' भरतजी यह कहते हुए प्रेम से विह्वल हो गये और श्री रामचन्द्रजी के चरणों पर गिर पड़े।

श्री रामजी ने हाथ पकड़ कर भरतजी को उठाया और स्नेह से अपने निकट बैठाया तथा मधुर वाणी से सन्मान कर उन्हें समझाया—

तात भरत तुम धर्म-धुरीणा ।
लोक-वेद -विधि परम प्रवीणा ।।

कर्म वचन मानस विमल तुम समान तुम तात ।
गुरु समाज लघु बन्धु गुण कुसमय किमि कहि जात ।।

जानहु तात तरणि-कुल-रीती ।
सत्यसिन्धु पितु कीरति प्रीती ।। } साधुमत

समय समाज लाज गुरु जन की ।
उदासीन हित अनहित मन की ।। } लोकमत

तुमहिं विदित सब ही कर मर्मू ।
आपन मोर परम हित धर्मू ।। } नृप-नय

मातु पिता गुरु स्वामि निदेशू ।
सकल धर्म धरणीधर शेशू ।।
सो तुम करहु करावहु मोहू ।
तात तरणि-कुल-पालक होहू ।। } निगम-निचोर

मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा } भरत-विनय का समादर

पहले जब गुरुदेव ने भरतजी को श्री रामजी के समक्ष उपस्थित किया था तब अपनी आन्तरिक धारणा का उल्लेख करते हुए श्री रामजी से कहा था—

भरत-विनय सादर सुनहु करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृप-नय निगम निचोरि॥

उसी सम्बोधन को हृदयस्थ रखते हुए श्री रामजी ने भरतजी को उपर्युक्त उत्तर दिया। उत्तर उचित और सन्तोषप्रद था। किन्तु श्री रामजी की अपील भरत के मस्तिष्क को थी, न कि हृदय को। यह सोचकर कि भरत भावना में डूबे हुए हैं और भावना-पृष्ठ पर तर्क एवं न्याय की धार बहुधा कुण्ठित हो जाती है, अग्रज ने अनुज के हृदय-तन्तुओं को झनकारा—

हे भाई! जिस प्रकार असमय सूर्यास्त हो जाने से सब को कष्ट होता है, उसी प्रकार पिता दशरथजी के असामयिक देहावसान से हम सब, प्रजा, पुरवासी और परिवार के लोग संकट में पड़ गये हैं। श्री गुरुदेव और जनकराजजी ने सब कठिनाइयाँ सँभाल ली हैं और भविष्य में भी इनकी कृपा का तुम्हें आश्रय रहेगा। अयोध्या में समाज के साथ तुम्हारी और वन प्रदेश के सब स्थानों में हमारी रक्षा गुरुकृपा करती रहेगी। इस कारण चिन्तित न होकर जितना भी कष्ट उठाना पड़े उसे सहन कर प्रजा और परिवार के भार को ग्रहण करना तुम्हें उचित और आवश्यक है। मैं जानता हूँ कि मेरा विछोह तुम्हें असह्य है; परन्तु सूर्यवंश की रीति और सत्यसागर पिताजी की शुभ्र कीर्ति अक्षुण्ण रखने के लिए हम सब भाइयों को यह महाविपत्ति हिल मिलकर बाँट लेनी चाहिए। क्या चौदह वर्ष तक यह कठिनाई झेलना भी तुम्हें भारी मालूम होता है?

जानि तुमहिं मृदु कहौं कठोरा।
कुसमय तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठाव सुबन्धु सुहाये।
ओढिय हाथ असिहि के धाये॥

'संकट के समय भाई ही काम आते हैं,' ऐसे सारगर्भित प्रेम-रस-पूरित वचन, श्री रामजी के सुनकर तथा अपने ऊपर पूर्ण भ्रातृत्वभाव और अनुग्रह देख एवं यह जानकर कि चौदह वर्ष पश्चात् श्री रामजी पुनः राज्याधिकार स्वीकृत कर लेंगे—

भरतहिं भयउ परम संतोषू।
सन्मुख स्वामि विमुख दुख दोषू॥
मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू।
भा जनु गूँगेहिं गिरा-प्रसादू॥
कीन्ह सप्रेम प्रणाम बहोरी।
बोले पाणि-पंकरुह जोरी॥
नाथ भयो सुख साथ गये को।
भयउ लाभ जग जनम लहे को॥

स्वामी की आज्ञा का पालन करने में कर्तव्यनिष्ठ सेवक को जो उत्साह और आनन्द होता है, उसी हर्ष को अनुभव कर भरतजी ने विनती की—

अब कृपालु जस आयसु होई।
करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलम्ब देव मोहिं देई।
अवधि पार पाउब जेहि सेई॥

आज्ञा शिरोधार्य है। अवलम्ब प्रदान हो, जिसकी सेवा से चौदह वर्ष की अवधि निर्विघ्न कट जावे। केवल दो प्रार्थनाएँ और हैं—

(१) देव, देव-अभिषेक हित गुरु-अनुशासन पाय।
आनेउँ सब तीरथ-सलिल तेहि कहँ काह रजाय?

(२) चित्रकूट मुनि थल तीरथ बन।
खग मृग सर सरि निर्झर गिरि गन॥
प्रभु पद-अंकित अवनि बिसेखी।
आयसु होय तो आवहुँ देखी॥

प्रसन्नचित्त श्री रामचन्द्रजी ने चित्रकूट-परिभ्रमण की प्रार्थना स्वीकार कर ली और अभिषेक-जल के निमित्त आज्ञा दी कि जिस स्थल पर श्री अत्रि मुनि कहें, वहाँ वह स्थापित कर दिया जावे।

सभा समाप्त हुई। दोनों ओर समाजों में हर्ष और शोक के मिश्रित अश्रुपात होने लगे। उपस्थित समुदाय द्वारा ध्वनि उठी जो आकाश मण्डल तक गूँज उठी—

धन्य भरत, जय राम गुसाईं।

——

पंद्रहवाँ प्रकरण

प्रत्यावर्तन

चरण पीठि करुणानिधान के।
जनु जुग जामिनि प्रजा प्राण के॥
सम्पुट भरत - सनेह-रतन-के।
आखर जुग जनु जीव जतन के॥ (मानस)

उस वनस्थली की प्राकृतिक छटा तथा ऋषि-मुनियों के आश्रम आदि देखने में भरत-शत्रुघ्नजी को पाँच दिन व्यतीत हो गये। दोनों भाइयों ने पैदल चलकर चित्रकूटवन की प्रदक्षिणा की। एक प्राचीन सिद्ध-स्थल में, जो कालान्तर से लुप्त हो गया था, अत्रि मुनि ने वह अभिषेक-सलिल (जो भरतजी अयोध्या से लाये थे) स्थापित करा दिया। उसका नामकरण श्री अत्रिजी ने किया 'भरत-कूप'। 'भक्ति-साधना' जो अज्ञात कारणों से लुप्त हो गई थी, मानों वह भरत-भावना के रूप में पुनः प्रकटित हुई। वह पावन भरत-चरित्र ही तो परम पवित्र कूप है जिसमें अवगाहन करनेवाला मनसा, वाचा और कर्मणा पवित्र हो जाता है। उससे यथार्थ में—

विधिवश भयउ विश्व उपकारू।
सुगम अगम अति धर्म विचारू॥

दिन पर दिन व्यतीत होते जाते थे परन्तु कोई लौटने का नाम न लेता था। भरतजी का प्रेम, नियम, व्रत और सहज भाव देख संकोचवश श्री रामचन्द्रजी भी अपने मुख से कुछ न कहते थे। एक बार उन्होंने कहने का विचार भी किया तथा गुरुदेव, जनकराज

और प्रजा वर्ग की ओर देखा परन्तु फिर दृष्टि नीची कर ली और पृथ्वी की ओर ताकने लगे। भक्त भरत ने उनके हृदय की बात जान ली। प्रातःकाल का समय था, सब समाज एकत्रित ही थी। सुजान भरत ने अपने आसन से उठ प्रणाम कर कहा—

राखी नाथ सकल रुचि मोरी।
मोहि लगि सबहि सहेउ संतापू।
बहुत भाँति दुख पावा आपू॥
अब गुसाईं मोहि देहु रजाई।
सेवौं अवध अवधि लगि जाई॥

जेहि उपाय पुनि पाँय जन देखै दीनदयालु।
सो सिष देइय अवधि लगि कौशलपाल कृपालु॥

अपने अनुज के ऐसे दीन और छलहीन वचन सुन श्री रामजी बोले—

तात तुम्हारि, मोरि, परिजन की।
चिन्ता गुरुहिं नृपहिं घर बन की॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ।
स्वारथ सुयश धर्म परमारथ॥
पितु आयसु पालयँ दुहु भाई।
लोक वेद भल भूप भलाई॥
... ...
तुम पुनि मातु सचिव सिख मानी।
पालहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥

यद्यपि श्री रामजी अनुज को हर प्रकार से समझाते थे, धैर्य देते थे, सान्त्वना देते थे परन्तु भरतजी के चित्त को प्रबोध न होता देख और यह जानकर कि—

बिनु अधार मन तोष न शाँती।

... ...

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं॥

भरतजी ने उन्हें मस्तक पर धारण कर लिया और अविलम्ब मिल जाने से उन्हें परम हर्ष प्राप्त हुआ—

असु सुख जस सियराम रहे तें।

आँखों से आँसुओं की गंगा बहाते दीनतापूर्वक प्रणाम कर अनुज ने विदा माँगी। श्री रामजी ने उन्हें छाती से लगा लिया। बड़े-बड़े मुनि, तपस्वी, ज्ञानी एवं निर्लिप्त महात्मा जो वहाँ उपस्थित थे 'भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो' के दृश्य को देखकर धैर्य त्याग बैठे। वैराग्य और विवेक मौनाश्रु खड़े रहे।

चित्रकूट तेहि समय सबन की
बुद्धि विषाद हई है।
तुलसी राम भरत के बिछुरत
सिला सप्रेम भई है॥

(गीता०)

जब उस पर्वतशृंग की शिला तक प्रेममयी होकर विसूरने लगी तब अन्य प्राणियों की दशा का वर्णन कौन करे? बिलखते बिलखते भरत ने कहा—

तुलसी बीते अवधि, प्रथम दिन
जो रघुवीर न ऐहौ।
तो प्रभुचरन-सरोज-सपथ, जीवत
परिजनहिं न पैहौ॥

प्रभु जानत, जेहि भाँति अवध लौं
वचन पाल निबहौंगो।
आगे की विनती तुलसी तब
जब फिर चरण गहौंगो॥

(गीता०)

लखनहिं भेंट, प्रणाम करि सिर धरि सिय पद धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल सुमंगल भूरि॥

(मानस)

——

सोलहवाँ प्रकरण

संन्यासी-सम्राट्

जब तें चित्रकूट तें आये।
नंदिग्राम खनि अवनि, डासि कुस
परनकुटी करि छाये ॥
अजिन बसन, फल असन, जटा धरे
रहे अवधि चित दीन्हें।
प्रभु-पद-प्रेम, नेम व्रत निरखत
मुनिन्ह नमन मुख कीन्हें ॥
सिंहासन पर पूजि पादुका
बारहिं बार जोहारें।
प्रभु अनुराग माँगि आयसु
पुरजन सब काज सँवारें ॥
तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु
त्यों त्यों प्रीति अधिकाई।
भये न, हैं, न होहिंगे कबहूँ
भुवन भरत-से भाई ॥

(गीता०)

मस्तक पर चरण-पादुकाएँ धारण-किये सब मण्डली समेत भरतजी ने चित्रकूट से अयोध्या की ओर मुख मोड़ा। रास्ते में पुनः भरद्वाजजी का आश्रम मिला। वहाँ जाकर महर्षि भरद्वाज को भरत ने प्रणाम किया और चित्रकूट का सारा विवरण प्रकाशित किया।

उनकी प्रसन्नता, विश्वास एवं आशीर्वाद लेकर शृंगवेरपुर होते हुए भरतजी अयोध्या पहुँचे।

वहाँ साकेत श्री और शोभा से हीन था। 'जिस प्रकार भ्रमरों से गुंजारित, फूलों से आवृत, गर्वित वनलता वसन्त के अन्त में ग्रीष्माग्नि से झुलस जाती है, उसी प्रकार नगरी का रूप हो रहा था।' परन्तु श्री राम-वन-गमन के समय और चित्रकूट से वापिस आने के पश्चात् की दशाओं में अन्तर था। पहले जो विषाक्त वायु-मण्डल अपनी तीव्र ज्वाला से सब प्राणियों को झुलसा रहा था, वह अब शान्त था। उसका दूषित भाव निकल चुका था परन्तु वियोग व्यथा से अब भी वह उत्पीड़ित था। वातावरण की क्षुब्धता नष्ट हो चुकी थी और उसमें नवीन आशा का संचार भी हो गया था। लोकमत अब भरतजी का विपक्षी नहीं था किन्तु अनुयायी और सहायक था। राज्य-व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के निमित्त महाराज जनक ने, राज्य-भार भरतजी को सौंपा और कुछ दिन वहाँ ठहरकर वे तिरहुत चले गये। माताओं को यथास्थान महलों में विराजमान करा, उनकी सेवा शुश्रूषा का भार भरतजी ने अनुज शत्रुघ्न को सौंपा। वधुओं की देख-रेख देवी माण्डवी ने अपने हाथ में ली। इस प्रकार गृह-प्रबन्ध से निश्चिन्त होकर भरतजी ने महर्षि वशिष्ठ, इतर मुनिमण्डली तथा वृद्धजनों से मंत्रणा की और कहा—

अयोध्या के राजा तो महायशस्वी श्री रामचन्द्रजी हैं। वे ही राजा हो सकते हैं। दूसरे किसी का अधिकार राज्यश्री उपभोग करने का नहीं। अतएव श्री रामजी की अनुपस्थिति में महलों में मेरा रहना उचित नहीं और न राजमन्दिर से राजधर्म सम्पादन करना ही ठीक होगा। इस कारण यदि सब की राय हो तो नन्दिग्राम में वासस्थान बनाये जाने और वहीं रहने की अनुमति दी जावे।

(वाल०)

सब मण्डली ने भरत-मन्तव्य की सराहना की और उसे उपयुक्त माना। तब शुभ मुहूर्त में—

राम-मातु गुरु-पद सिर नाई।
प्रभु-पद-पीठ रजायसु पाई॥
नंदि ग्राम कर पर्ण कुटीरा।
कीन्ह निवास धर्म-धुर-धीरा॥

(मानस)

धर्मात्मा भरत श्री रामजी की पादुकाएँ सिर पर रख नन्दिग्राम पहुँचे और उन्हें वहाँ प्रस्थापित कर उपस्थित सज्जनों से बोले—

'यह श्रेष्ठ राज्य मेरे पूज्य भाई श्री रामचन्द्रजी ने, धरोहर की भाँति, मुझे सौंपा है। उनकी ये स्वर्ण-विभूषित पादुकाएँ इस राज्य के योग-क्षेम का निर्वाह करेंगी। ये श्री रामजी के चरण माने जावें, तथा इन पर शीघ्र ही छत्र ताना जावे और चँवर डुलाया जावे, क्योंकि ये मेरे पूज्य गुरु की पादुकाएँ हैं। इनसे मानों इस राज्य में धर्म स्थापित हुआ है। जब श्री रामजी अयोध्या वापिस आवेंगे तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुकाएँ पहिना, उन सहित उन चरणों का दर्शन करूँगा।' (वाल०)

इस प्रकार उन पादुकाओं को राज्यगद्दी पर स्थापित कर उनके अधीन हो भरतजी राज्यशासन करने लगे। जो कार्य होता वह उन पादुकाओं को जताकर किया जाता, जो भेंट आती वह पहले पादुकाओं के समक्ष रखी जाती, फिर उसका यथोचित व्यवहार किया जाता।

नित पूजत प्रभु पाँवरीं प्रीति न हृदय समात।
माँगि माँगि आयसु करत राज-काज बहु भाँत॥

(मानस)

सुव्यवस्था स्थापित हो गई। शासन के निमित्त शिक्षित, अनुभवी, विद्वान, नम्र सेवक काम पर लगाये गये। ब्राह्मणों को बुलाकर भरतजी ने विनती की कि उनका जो कुछ कार्य हो उसे करने की वे, निस्संकोच होकर, आज्ञा दें। पुरवासियों तथा प्रजा-प्रतिनिधियों को एकत्र कर उन्हें हर प्रकार से आश्वासन दिया। उन्हें भी पूर्ण विश्वास हो गया कि राज्य के यथार्थ अधिकारी श्री रामचन्द्रजी हैं और उनकी आज्ञा से ही भरतजी प्रतिनिधि-रूप सेवक बनकर कार्य-भार चलाने को दृढ़प्रतिज्ञ हैं। समस्त प्रजा शुद्ध हृदय से भरतजी के वशवर्ती हुई। तब निश्चिन्त होकर भरतजी गुरुदेव के घर गये और उनसे प्रार्थना की—

आयसु होय तो रहौं सनेमा।

गुरुदेव ने भी आह्लादित होकर आशीर्वाद दिया—

समुझब, कहब, करब तुम सोई।
धर्म-सार जग होइहि जोई॥

(मानस)

गुरुदेव के विश्वासपात्र एवं कृपापात्र बन विरागी भरत ने नन्दिग्राम की पर्णशाला में एक गड्ढा खुदवाया। उसमें बैठकर, तपस्वियों की भाँति यम, नियम, शम, दम का पालन कर वे साधना में लीन हुए। उनके कठोर व्रत और रहन सहन को देखकर प्रजाजन तथा दर्शक बरबस कहने लगे—

मोहि भावत, कहि आवत नहिं
भरत जू की रहनि।
सजल-नयन, सिथिल बयन
प्रभु-गुणगण कहनि॥

असन बसन, अयन सयन धरम गरुअ गहनि।
दिन दिन पन प्रेम नेम निरुपधि निरबहनि॥
सीता रघुनाथ लखन विरह पीर सहनि।
तुलसी तज उभय लोक राम चरन चहनि॥

(गीता०)

महाराज दशरथ और महारानी कैकेयी की आज्ञा से जो तपस्वी-जीवन श्री रामजी ने स्वीकार किया था तथा उनके अनुज और अनन्य सेवक के नाते जो कठोर जीवन वीर लक्ष्मण ने अंगीकार किया था, वही जीवन अपनी भायप-भक्ति पूर्ण करने के निमित्त साधु भरत ने केवल स्वेच्छा से निश्चित किया। वन-यात्रा में भोग-विलास के विविध साधन उपलब्ध न थे किन्तु अयोध्या के राजमहलों में तो वह सामग्री वर्तमान थी जो देवताओं को भी अप्राप्य थी। उस सब से अपना चित्त फेर तपस्वी भरत उपराम वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करने लगे —

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चम्पक-बागा॥ (मानस)

भौतिक भोगों से विरक्त होकर चातक की टेक एवं हंस का विवेक ग्रहण कर, भरत तप में निरत हुए। परन्तु उन पवित्र पादुकाओं का प्रतिनिधि अपने उस उत्तरदायित्व में भी पूर्ण सजग था, जो श्री रामजी ने उसके ऊपर डाल दिया था। चौदह वर्ष का यह काल भरत के लिए प्रतिक्षण परीक्षा का युग था। संसार के इतिहास में कई त्यागी महात्मा हो चुके हैं जिनके नाम का स्मरण गौरव से किया जाता है। परन्तु मानना पड़ता है कि त्यागमूर्ति भरत ने जो अपूर्व आदर्श उपस्थित किया वह अनूठा ही रहेगा। उनकी मर्यादा और भावना को कोई आज तक छू न सका। बिना प्रयास पाये हुए एक विशाल साम्राज्य को अपने भ्रातृ-प्रेम और

कुल-परम्परा की रक्षा करने के निमित्त सहज भाव से विसर्जन कर देना सरल भी हो किन्तु अपने अग्रज की आज्ञा से उसी परित्यक्त राज्य को 'न्यास' मान सुरक्षित रखना और उसे अधिक समृद्ध कर चौदह वर्ष तक उसके शासन का दण्ड भोगना, एक ऐसा महत् कार्य था जो भरतजी ही पूर्ण कर सके। त्याग, बहुधा भावनामूलक होता है। केवल भावोद्वेग से किया हुआ त्याग क्षणिक होता है। किसी कलंक या लोकापवाद से बचने के अभिप्राय से अथवा कीर्ति-संचय के लोभ से जो त्याग प्रदर्शन किया जाता है वह प्रपंचमय रहता है। भरतजी का त्याग इन दोनों दोषों से मुक्त था। स्वयं प्राप्त ऋद्धि को अपनी न लख, जिसकी वस्तु उसे समर्पित कर देना, यह धारणा भरत के हिस्से में पड़ी थी। चौदह वर्ष के दीर्घ काल तक सब सुख-साधनों से घिरे रहकर राजमहल, राजसिंहासन, प्रजाजन और राजकर्म-चारियों से परिवृत होते हुए भी केवल प्रतिनिधि-सेवक भाव से एक बृहत् राज्यपद का भार, अलिप्त होकर धारण किये रहने की क्षमता भरतजी ही प्रत्यक्ष दिखा सके। उनकी इस तपस्या को स्वयं श्री रामजी ने 'असिधारा व्रत' कहा है—

'भरत की मुझ पर अपूर्व भक्ति है। पिताजी ने राजलक्ष्मी को उनकी गोद में दे दिया; परन्तु भरत ने युवा होकर भी उसे हाथ तक न लगाया, उस ओर ताका भी नहीं। मुझमें अत्यधिक श्रद्धा रखने के कारण उसे उन्होंने चौदह वर्ष तक वैसी ही अनभोगी रखा। पास-पास रहने पर यदि युवक और युवती के मन में विकार उत्पन्न न हो तो वह 'असिधारा व्रत' कहलाता है। तलवार की धार पर चलने के समान इस व्रत को साध लेना अति कठिन है। भरत ने इतने वर्षों तक राज्य-लक्ष्मी को अनभोगी रखकर उस महान् कठिन व्रत की साधना की है। अतएव उनके निर्मल चरित्र की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।　　　　(रघुवंश १३)

सिंहासन पर श्री रामजी की पादुकाएँ स्थापित कर सच्चे राम-सेवक बन राज्य चलाना भी साधारण कार्य न था। ये पादुकाएँ साम्राज्य की प्रतीक थीं। उनकी सेवा का अर्थ था राष्ट्र-सेवा। उनकी आज्ञा लेने का अर्थ था, जनता के स्वर को सुनना, पहचानना और तदनुसार बर्ताव करना। प्रजाहित के शुभ संकल्प को हृदय में धारण किये, राजत्व के प्रमाद, ऐश्वर्य तथा लिप्सा से दूर, निस्पृह एवं निर्लेप, स्थितप्रज्ञ भरत अपनी पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य से, अयोध्या राज्य की धरोहर रक्षित एवं समृद्ध करने तथा अवधि के पश्चात् जिसकी वस्तु उसे सौंप देने के संकल्प से योगारूढ़ हुए। अन्तस में पूर्ण चरणानुरागी, भोग में विरागी और कर्म में फलत्यागी नन्दिग्राम के तपस्वी सम्राट् अवधि पार करने के अनुष्ठान में निमग्न हुए। उनका भौतिक शरीर कष्टप्रद जीवन के कारण दिन प्रति दुर्बल होता जाता था परन्तु उसकी आभा तथा आन्तरिक बल और तेज उसी अनुपात से बढ़ता जाता था। उनकी चर्या, व्यवहार और आचरण देख बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी चकित होते और उनका गुणानुवाद गाने लगते। गोस्वामी तुलसीदासजी के वाक्य हैं—

भरत-रहनि समुझनि करतूती।
भक्ति विरति गुण विमल विभूती॥
बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं।
शेष महेश गिरा गम नाहीं॥

फिर अल्पज्ञ मनुष्यों की सामर्थ्य ही क्या?

सत्रहवाँ प्रकरण

चौदह वर्ष

बरसें बीत गईं पर अब भी, है साकेत पुरी में रात ।

(साकेत)

Have faith, your waiting shall not be in vain;
Time gilds with gold the iron links of Pain.
The dark today leads unto light tomorrow,
There is no endless joy no endless sorrow.

काल ने अपनी श्याम छाया का अञ्चल सूर्य-मण्डल पर ताना । अन्धकार हो गया । निशा ने भी अपना अनन्त पट ऐसा बढ़ाया कि उसमें महीने और वर्ष लिपटते चले किन्तु छोर का ठिकाना न मिला । समय धीरे धीरे खिसकता चला परन्तु साकेत का विरह राग न घटा । वनयात्रियों को तो प्रायः हर रोज नये दृश्य देखने को मिल जाते थे परन्तु नन्दिग्राम के जटाधारी को चौबीसों घण्टों और बारहों महीनों एक ही स्थान था, एक ही दृश्य था, एक ही धुन थी—

उटज अजिर में पूज्य पुजारी
उदासीन - सा बैठा है ।
मनों देव-विग्रह मन्दिर से
निकल लीन-सा बैठा है । (साकेत)

"A look that is fastened to the ground,
A tongue chained up without a sound.

श्री राम-चरणों का अहर्निश ध्यान लगाये मधुर नाम का मूक संकीर्तनकर्ता, वियोग-व्यथा की अग्नि सुलगाये, दर्शन-लालसा की अखण्ड ज्योति जगाये, राज्यभार का जटाजूट मस्तक पर धारण किये, वह एकान्त पुजारी अवधि निशा के पल काट रहा था।

राजमहल के अन्तःपुर में माता कौशल्या अपनी दीन दशा का अनुभव करती थीं। कभी सोचने लगतीं कि चित्रकूट से ही श्री रामजी के साथ वन को क्यों न चली गई। उनकी मनोदशा क चित्र तुलसीदासजी ने अन्यत्र खींचा है—

कौसिल्या दिन रात बिसूरत,
बैठ मनहिं मन गौन।
तुलसी उचित न रोयबो,
प्राण गये सँग जौ न॥
पति सुरपुर, प्रिय राम लखन बन,
मुनिव्रत भरत लह्यो।
हौं रहिं घर मसान पावक ज्यों,
मरिबोइ मृतक दह्यो॥
भरत-दसा सुनि, सुमिर भूपगति,
देखि दीन पुरवासी।
तुलसी 'राम' कहत सकुचत है,
ह्वै है जग उपहांसी॥

पतिशोक, पुत्रवियोग, भरत की दशा से चिन्तित, प्रजावर्ग के दुख से दुखी राजमाता 'राम' शब्द का जोर से उच्चारण करने में हिचकती थी कि मुख से निकली हुई वह आर्तध्वनि यदि भरत के कर्णगोचर हो गई तो उनकी गति और भी अधिक विषम हो जावेगी। जगत् में माता और पुत्र का उपहास होने लगेगा। इस संकोच से माता चीख मारकर अपने पुत्र का नाम ले रो तक न

सकती थी। रानी सुमित्रा सर्वदा उनके साथ रहतीं और उन्हें समझाती रहती थीं। महारानी कैकेयी के अनुताप का क्या वर्णन किया जावे। वह तपस्विनी बनी अपने कृत्य का प्रायश्चित्त करती थी। चित्रकूट से विदा होते समय जब कैकेयी ने श्री रामचन्द्रजी से क्षमा-याचना की, तब उन्होंने उसे सन्तोष देकर कहा था—

'माता, जाओ। मुझसे क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं। सबसे स्नेह छोड़कर हृदय में रात-दिन मेरा ध्यान करो।'

(अध्यात्म)

बहुओं में देवी माण्डवी, अन्य भगिनियों समेत. राजमहल में रहतीं और उनकी तथा सासुओं की देख-भाल किया करती थीं। प्रतिदिन फलाहार लेकर नन्दिग्राम जातीं, पादुकाओं को अर्पण कर भरतजी को प्रसाद देतीं और दर्शन कर वापिस चली आतीं। उनके घरू और बाहरी कामों में हाथ बटानेवाली शत्रुघ्नप्रिया देवी श्रुतकीर्ति थीं। इन दोनों का समय तो काम-काज में व्यतीत हो जाता परन्तु सबसे विचित्र दशा देवी उर्मिला की थी, जिसके 'उत्ताप' का वर्णन साकेतकार ने किया है—

मानस-मन्दिर में सती पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप।

अवधि शिला का था उर पर गुरु भार।
तिल तिल काट रही थी दृग-जल-धार।

श्री राम-वियोग के साथ साथ भरतजी को क्लेशित करनेवाले ये सब संयोग भी थे। इन सब विपत्तियों को सहन करते हुए भरतजी राज्य-रक्षा में सतर्क और जागरूक रहते तथा मातृ-सेवा और राष्ट्र-सेवा करने का यथोचित परामर्श श्री शत्रुघ्नजी को देते रहते थे। उन दिनों समाचार भेजने या पाने के आधुनिक सरल साधन

नहीं थे। यदा कदा वन-यात्रियों के समाचार आने-जानेवाले कोल-भीलों या विचरण करते हुए मुनिगणों द्वारा मिल जाते थे। श्री रामजी चित्रकूट छोड़कर दण्डकारण्य में चले गये थे। वहाँ का कुछ हाल-चाल निषादराज गुह को मिला जो उसने अयोध्या प्रेषित किया। ऐसे एक पत्र का वर्णन श्री तुलसीदासजी ने गीतावली में किया है—

सुनी मैं सखि! मंगल चाह सुहाई।
सुभ पत्रिका निषादराज की आजु भरत पहँ आई॥
कुँवर सो कुसल-छेम अलि, तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई।
गुरु कृपालु संभ्रम पुर घर घर, सादर सबहिं सुनाई॥
बधि विराध, सुर साधु सुखी कर ऋषि सिख आसिस पाई।
कुंभज सिष्य समेत संग सिय मुदित चले रघुराई॥
बीच विंध्य रेवा सुपास थल बसे हैं परन-गृह छाई।
पंच कथा रघुनाथ बटोही तुलसिदास सुन गाई॥

'मानस' के अनुसार श्री सीता-हरण और भीषण राम-रावण युद्ध का समाचार अयोध्या में पहिले पहिल वीरश्रेष्ठ पवन-कुमार द्वारा प्राप्त हुआ था। मेघनाद द्वारा लक्ष्मणजी को शक्ति लग चुकी थी। उनका जीवन संकट में था। उनके उपचारार्थ हनुमान्‌जी संजीवनी बूटी लाने भेजे गये थे। वे द्रोणगिरि को लिये हुए अयोध्या पर से लंका वापिस जा रहे थे। रात्रि का सन्नाटा था। भरतजी ने यह समझ कर कि कोई मायावी राक्षस अयोध्या पर उत्पात मचाने आकाश मार्ग से आ रहा है, बिना फल का बाण चला दिया। उससे आहत हो, वज्रांगी हनुमान् धराशायी हुए और उन्होंने "राम राम" का उच्चारण किया। वह शब्द सुनते ही भरतजी दौड़कर उनके पास गये और अति आतुर एवं चिन्तित हो उन्हें पुकारने और जगाने लगे। यद्यपि बाण साधारण था, परन्तु

चलाया गया था वह भरतजी द्वारा। उसका प्रहार महावीर पवन-सुत सहन न कर सके। वे बेसुध थे। जब भरतजी ने देखा कि उन्हें सुध नहीं आ रही तब उन्होंने अपने 'राम'-प्रेम की साँस ली। हनुमानजी तुरन्त उठ खड़े हुए। भरतजी ने उन्हें हृदय से लगाया और उनसे श्री रामजी के समाचार जानना चाहे। वीरवर हनुमान ने संक्षेप में कुल हाल उनसे कहा। सुनकर भरतजी को अतीव दुःख और चिन्ता हुई। वे हनुमानजी से बोले—

तात गहरु होइहि तुहि जाता।
काज नसाइहि होत प्रभाता॥
चढ़ मम सायक शैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता॥

महावीरजी को भरतजी की विपुल शक्ति का विश्वास नहीं हुआ परन्तु परीक्षा करने पर शीघ्र ही समाधान हो गया और वे 'भरत बाहुबल शील गुण प्रभु-पद-प्रीति अपार' की मन ही मन सराहना करते हुए आकाश मार्ग से लंका को उड़ गये।

श्री लक्ष्मणजी को शक्ति लगने का उल्लेख वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में भी है; परन्तु उसका रूप और समय बिलकुल भिन्न है। तुलसीदासजी का कथन है कि लक्ष्मणजी पर शक्ति प्रहार करनेवाला रावण-पुत्र बली मेघनाद था। महर्षि वाल्मीकि का वाक्य है कि यह शस्त्र (शक्ति) बलवान् रावण ने ही चलाया था। यही मत अध्यात्म रामायण का है। संजीवनी बूटी लाने के हेतु जब हनुमानजी जा रहे थे तब कालनेमि राक्षस के मार्गावरोध करने का उल्लेख अध्यात्म रामायण में तो है परन्तु आदिकवि ने उस प्रसंग की कहीं चर्चा नहीं की। अयोध्या पर से हनुमानजी के वापिस होने और भरतजी के बाण-प्रहार से भूमिगत होने का वर्णन या उल्लेख उन दोनों रामायणों में नहीं। जो भी हो—

हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता।
बहु प्रकार गावहिं श्रुति सन्ता॥

'साकेत' कार ने इस कथा का वर्णन न्यारे ढंग से किया है। शत्रुघ्नजी नगर और राज्य का समाचार अपने ज्येष्ठ बन्धु भरत को सुना रहे थे। राज्य में नवीन जाग्रति, नवीन स्फूर्ति और नव निर्माण की जो भावना फैल रही थी, उसकी चर्चा कर रहे थे। हर्षोत्फुल्ल होकर वे भरतजी को आशा दे रहे थे—

अवधि यवनिका उठे आर्य,
तो देखेंगे पुर के सब वृद्ध—
प्रभु को आप राज्य सौंपेंगे
पहले से भी अधिक समृद्ध।

भरतजी ने उनसे कहा कि राज्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से भेंटें आई हैं—

मानसरोवर से आये थे
सन्ध्या समय एक योगी।
मृत्युंजय की ही यह निश्चय
मुझ पर कृपा हुई होगी।
वे दे गये मुझे वह औषधि
संजीवनी नाम जिसका—
क्षत-विक्षत जन को भी जीवन
देना सहज काम जिसका।
किया उसे संस्थापित मैंने
चरण-पादुकाओं के पास।
फैल रही यह सुरभि उसी की
करती है वह विभा-विकास।

ये बातें चल ही रही थीं कि गगन में काली झलक दिखाई दी। भरतजी ने मायावी राक्षस समझ बाण चला दिया—

'हा लक्ष्मण ! हा सीते' दारुण
आर्तनाद गूँजा ऊपर।
और एक तारक-सा तत्क्षण
टूट गिरा सम्मुख भू पर।

'हरे हरे, किसको मार दिया' ? यह कहते भरतजी दौड़े और पूछने लगे कि भाई, तुम कौन हो ? कोई उत्तर न मिलने पर देवी माण्डवी ने कहा कि उस संजीवनी बूटी की--जो हिमालय के ऋषि दे गये थे—परीक्षा करने का उपयुक्त अवसर है। भरतजी दौड़कर पादुकाओं के पास से उस बूटी को उठा लाये और उपचार किया। हनुमानजी जाग्रत हो उठे। उनसे भरतजी ने वनवासी भाइयों और सीताजी का सब हाल जाना। लक्ष्मणजी का आहत होना सुनकर सब दुखी हुए। खेद का स्थान तुरन्त क्रोध ने ले लिया। सब रघुवंशी लंका पर चढ़ाई करने और जड़मूल से रावण का नाश करने को उतारू हो गये। गुरुदेव को हाल मालूम हुआ। वे आये। उन्होंने सबको समझाया और आश्वासन दिया कि अकेले रामचन्द्रजी ही राक्षसों का संहार करने को समर्थ हैं। रघुवंशियों के सैन्य लेकर लंका जाने की आवश्यकता नहीं।

'साकेत-सन्त' के कवि की कल्पना भी द्रष्टव्य है—

गुरु वशिष्ठ उसही क्षण आये।
मानस विद्युत के लाघव से, जब कि भरत नभ पर मँड़राये॥
रोका उन्हें, और गुरु बोले "दिव्य दृष्टि देता हूँ, देखो।
प्रभु की आज्ञा को मत टालो, लो आसन्न भविष्य सरेखो॥"
चल-चित्रों-से सम्मुख आये, लंका-जय के चित्र सुहाये।

भरतजी को सन्तोष हो गया। हनुमानजी लंका को उड़ गये।

अठारहवाँ प्रकरण

भाग्योदय

आया आया, किसी भाँति वह दिन भी आया—
जिसमें भव ने विभव, गेह ने गौरव पाया ॥
(साकेत)

रावण-निधन, लंका-विजय तथा श्री सीताजी के पुनः सम्मिलन के पश्चात् श्री रामचन्द्रजी अयोध्या लौटने को बहुत अधीर हुए। लंकापति विभीषण ने बहुतेरा चाहा कि उन्हें राजधानी में ले जाकर यथायोग्य आदर-सत्कार करें; परन्तु चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण न होने तक नगर में न जाने के प्रण ने एवं शीघ्रातिशीघ्र भरतजी से मिलने की आतुरता ने विभीषण की प्रबल इच्छा सफल न होने दी। श्री रामजी ने विभीषण से कहा—

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः। (वाल०)
दशा भरत की सुमिरि मोहि निमिष कल्प सम जात।
... ...
तापस वेश शरीर कृस जपै निरंतर मोहि।
देखौं वेग सो यतन करु सखा निहोरौं तोहि ॥
जो जैहौं बीते अवधि जियत न पाऊँ बीर।
(मानस)

निदान पुष्पक विमान पर महारानी सीता, अनुज लक्ष्मण, सखा सुग्रीव, विभीषण, सेवक हनुमानजी तथा अन्य मुख्य-मुख्य सैनिकों सहित विराजमान हो, रघुकुल-श्रेष्ठ श्री रामचन्द्रजी ने उत्तर

की ओर प्रस्थान किया। प्रयागराज में पहुँच कर महामुनि भरद्वाज के दर्शन किये। उनसे आशीर्वाद लिया और भरतजी का कुशल-समाचार जाना। फिर पवन-कुमार को भरतजी की गति-विधि जानने तथा अन्तस टटोलने और निषादराज को आगमन की सूचना देने भेजा। हनुमानजी को समझाया कि वे अयोध्या जाकर यह जानने का प्रयत्न करें—

'भरत की अन्तःभावना क्या है? चौदह वर्ष तक पूर्वजों का राज्य भोगने, उसकी समृद्धि और ऐश्वर्य में लिप्त रहने से उनके चित्त में कोई मोह तो उत्पन्न नहीं हो गया? वन से मेरे वापिस आने की वार्ता सुनने से भरत की मुख-मुद्रा क्या रूप धारण करती है?' (वाल०)

यहाँ भरत पर क्या बीत रही थी, उसका ज्ञाता भरत-हृदय ही था। ज्यों-ज्यों अवधि-समाप्ति का समय निकट आता जाता त्यों-त्यों श्री रामजी के वापिस आने की हर्ष-सूचना प्राप्त होने की उत्कंठा तीव्रतर होती जाती और उसकी अप्राप्ति से चित्त अधैर्य की सीमा तक पहुँचता जाता था। कभी दाहिनी भुजा फड़कने लगती तो शुभ शकुन समझ सोचने लगते कि श्री रामजी आ रहे हैं और अवश्य आवेंगे। कभी अपनी हीनता और माता की कृति का स्मरण हो आता तो भयभीत हो जाते। उनकी उस समय की मनोदशा और हृदयग्राही चिन्तन का चित्र भक्त तुलसीदासजी ने शब्द-रेखाओं में बद्ध किया है—

रहा एक दिन अवधि-अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारण कवन नाथ नहिं आये।
जानि कुटिल मोहिं प्रभु बिसराये॥
जो करणी समुझें प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कल्प शत कोरी॥

बीते अवधि रहहिं जो प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

उनका विकल मन राम-विरह-सागर में इसी प्रकार गोते लगा रहा था कि ब्राह्मण-रूपधारी हनुमानजी आ पहुँचे। उन्होंने देखा—

समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्।
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्॥ (वाल०)

बैठे देख कुशासन जटा मुकुट कृश गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥ (मानस)

भरतजी का ब्रह्मर्षि समान तेज और असीम राम-प्रेम देखकर हनुमानजी गद्‌गद हो गये। पवनकुमार ने यह भी देखा—

भरतजी, श्री रामचन्द्रजी की खड़ाउओं को अपने आगे रख पृथ्वी का शासन कर रहे हैं और चारों वर्णों की प्रजा की समस्त भय से रक्षा कर रहे हैं। उनके समीप काषाय वस्त्रधारी ईमानदार मंत्री, सेनाध्यक्ष और पुरोहित बैठे हुए हैं। (वाल०)

धर्म और प्रेम की मूर्त्ति भरत को देखकर पवननन्दन हनुमानजी ने अमृत-तुल्या मधुर वाणी से कहा—

हे देव, तुम रात-दिन जिन दण्डकारण्यवासी और चीर जटाधारी की चिन्ता में डूबे रहते हो, उन श्री रामचन्द्रजी ने तुम्हारे पास अपना कुशल संवाद भेजा है। श्री रामचन्द्रजी रावण को मार, सीता को प्राप्त कर वनवास की अवधि पूरी कर, महाबलवान् मित्रों को साथ लिये हुए आ रहे हैं। उनके साथ महातेजस्वी लक्ष्मण भी हैं। हे देव, मैं तुमको यह प्रिय संवाद सुनाने आया हूँ। अब तुम इस दारुण शोक को त्यागो। थोड़ी ही देर में तुमसे तुम्हारे भाई की भेंट हो जावेगी। वे शीघ्र ही तुमसे मिलनेवाले हैं। (वाल०)

जासु विरह सोचहु दिन-राती ।
रटहु निरन्तर गुण-गण-पाँती ॥
रघुकुल-तिलक सुजन-सुख-दाता ।
आये कुशल देव-मुनि-त्राता ॥
रिपु रण जीत सुयश सुर गावत ।
सीता अनुज सहित प्रभु आवत ॥ (मानस)

वचन क्या थे, क्षत-विक्षत को संजीवनी और मृतप्राय को पीयूष। भरतजी एकदम उठ खड़े हुए। आगन्तुक का परिचय प्राप्त किया। प्रेम पुलकावलि अश्रु रूप से झरने लगी। अनुगृहीत होकर कुशल-समाचार जाने और फिर प्रश्न किया—

कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं ।
सुमिरत मोहि दास की नाईं ॥ (मानस)

भरतजी का यह प्रश्न ही उनके अन्तस का द्योतक था। हनुमानजी को और क्या संतोष चाहिए था ? वे स्वतः भरतजी को सन्तोष देने लगे—

राम प्राणप्रिय नाथ तुम, सत्य वचन मम तात ।

भरतजी के हृदय का ज्वार शान्त हुआ। वह विहान उनके भाग्योदय का उषःकाल था। उस दिन उन्हें नवजीवन प्राप्त हुआ। तुरन्त नगर में जाकर गुरुदेव को शुभ समाचार सुनाया, माताओं को सुचना दी, श्री राम-आगमन की घोषणा कराई और तोरण-पताका आदि से नगर को सुसज्जित करने का आदेश दिया। अयोध्या अपने बिछुड़े राजराजेश्वर के शुभागमन की प्रतीक्षा में प्रोत्साहित हुई। भरतजी अपने अनुज शत्रुघ्न, राजमंत्री, गुरुवर्य्य, ऋषिमण्डली, ब्राह्मणवर्ग, नागरिक आदि को साथ ले, दलबल सहित, आनेवाले वनयात्रियों का स्वागत करने चले।

आदिकवि का कथन है कि 'धर्मकोविद भरतजी अपने शीश पर श्री रामचन्द्रजी की दी हुई पूज्य पादुकाएँ धारण किये हुए थे। उन पर श्वेत पुष्पों की मालाएँ शोभित थीं, छत्र लगा हुआ था तथा चँवर डुल रहे थे। थोड़ी प्रतीक्षा के पश्चात् पुष्पक समीप आया, फिर धरती पर उतरा। श्री रामजी सब साथियों समेत उस पर से उतरे और उसे लौटा दिया। सबसे पहिले मर्यादापुरुषोत्तम ने गुरुदेव के चरण छुए, फिर ऋषियों और ब्राह्मणमण्डली को प्रणाम किया। तदनन्तर भरतजी दौड़कर श्री रामजी के चरणों पर गिर पड़े।

परे भूमि, नहिं उठत उठाये।
बलकर कृपासिन्धु उर लाये॥ (मानस)

भरतजी शिथिल थे, श्री रामजी ने अपने बल से उन्हें उठाया और अंक में भर लिया। 'साकेत' की यह भेंट भी अत्यन्त पावन है—

उठ भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है।
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।
गये चतुर्दश वर्ष, थका मैं नहीं भ्रमण में—
विचरा गिरि-वन-सिन्धु-पार लंका के रण में।
श्रान्त आज एकान्त रूप-सा पाकर तुझको—
उठ भाई, उठ भेंट अंक में भर ले मुझको।
मैं वन जाकर हँसा, किन्तु घर आकर रोया।
खोकर रोये सभी, भरत मैं पाकर रोया।

भरतजी को चरणों में पड़ा देख, श्री रामजी स्वयं शिथिल हो गये। उनमें भरत को उठाने की शक्ति न रही। गद्गद होकर वे भरत से याचना करने लगे कि वे (भरत) उन्हें अपने अंक में भर लें। मिलन और विछोह दोनों ही प्रेम के दो छोर हैं। दोनों में प्रायः

एक-से उद्वेग होते, एक-सी ही बाह्य चेष्टाएँ होतीं किन्तु परिणाम में अन्तर होता है। वियोग के प्रेमाश्रु शीतल और मिलन के उष्ण होते हैं। वियोग के भावी दुःख और संयोग के भावी सुख की लहरें एक ही रूप में उठतीं और विलीन होती हैं। श्री रामजी और भरतजी का शुभ मिलन, उसका हर्ष और वर्णन कल्पना से परे है। वह शब्दों में बद्ध नहीं किये जा सकते।

पूछत कृपानिधि कुशल भरतहिं बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन से भिन्न जान न पावई॥
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दर्सन दियो।
बूड़त बिरह-वारिधि कृपानिधि काढ़ मोहि कर गहि लियो॥
(मानस)

साधु भरत ने महारानी सीता के पुनीत चरणों पर विनीत मस्तक झुकाया। फिर—

भरत अनुज लक्ष्मण तब भेंटे।
दुसह विरह सम्भव दुख मेटे॥ (मानस)

भरत मिले सुग्रीव विभीषण से यह कहकर—
सफल बंधु-सम्बन्ध हमारा तुम में रहकर॥ (साकेत)

सब पुरवासियों से भेंट हो जाने के पश्चात् माताओं की पारी आई। तब कौशल्यादि माताएँ दौड़कर ऐसी आईं जैसे अपने नव वत्स की स्मृति में चारण से लौटती हुई गाय अपने स्थान को दौड़ती है—

जनु धेनु बालक वत्स तजि गृह चरन बस परबस गईं।
दिन अन्तःपुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटे बचन मृदु बहुविधि कहे।
गइ विषम विपति वियोग-भव तिन्ह हर्ष सुख अगणित लहे॥

भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरण रत जानि।
रामहिं मिलत कैकयी हृदय बहुत सकुचानि॥
लक्ष्मण सब मातन्ह मिले हर्षे आशिस पाय।
केकयि कँह पुनि पुनि मिले मनकर छोभ न जाय॥

(मानस)

आचार्य केशवदास का लेख है कि मिलाप होने पर सुमित्राजी ने श्रीरामजी से कहा कि वन-यात्रा में लक्ष्मण से यदि कोई भूल-चूक हुई हो तो उसे क्षमा करना। श्री रामजी ने लक्ष्मण की प्रशंसा करते हुए उनसे कहा—

पौरिया कहौं कि प्रतीहार कहौं, किधौं प्रभु
पुत्र कहौं मित्र किधौं मन्त्री सुख दानिये।
सुभट कहौं कि शिष्य दास कहौं किधौं दूत,
केसौदास हाथ को हथ्यार उर आनिये॥
नैन कहौं किधौं तन मन किधौं तन-त्रान,
बुद्धि कहौं किधौं बल विक्रम बखानिये।
देखिबो को एक हैं, अनेक भाँति कीन्हीं सेवा,
लखन के मात! कौन कौन गुन मानिये॥

और महारानी कैकेयी को संकुचित देख श्री रामजी बोले—

मूल शक्ति माँ, तुम्हीं सुयश के इस उपवन की।
फल, सिर पर ले धूल, दिये जो तुमने मीठे।
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे।

(साकेत)

उन्नीसवाँ प्रकरण

अभिषेक

We live in deeds, not days,
in thoughts, not breaths,
in feelings, not in figures on a dial,
... ...
He lives most who thinks most,,
Feels the noblest, acts the best.

उस दिन अयोध्या फिर हर्षोन्मत्त हुई। जिस प्रकार पूर्णिमा के प्रकाश में उत्फुल्ल उदधि, चन्द्रालिंगन के हेतु, अपनी विविध भुजाएँ ऊँची उठाता है, उसी प्रकार श्री रामजी को अभिषेक के पूर्ण आलोक में देखने के आनन्द में, सारा नगर और राज-समाज उल्लसित हो रहा था। उस समय तक उस विशाल राज्य का कोई अभिषिक्त उत्तराधिकारी न था। श्री रामजी ने अपने माता-पिता की आज्ञा से उसे त्याग दिया था और भरतजी ने अपने आप उसे तिलाञ्जलि दे दी थी। कुल-परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ श्री रामचन्द्रजी उत्तराधिकारी थे और गत महाराज के वचनानुसार श्री भरतजी। चित्रकूट-सम्मेलन में भरतजी ने अपने ज्येष्ठ बन्धु से अभिवचन ले लिया था कि चौदह वर्ष वन में व्यतीत कर जब वे पुनः अयोध्या लौटेंगे तब राज-भार ग्रहण कर लेंगे। अतएव भ्रातृ-भेंट के उपरान्त ही भरतजी ने वे स्वर्णजटित पादुकाएँ—जो उन्हें चित्रकूट में प्रदान हुई थीं और चौदह वर्ष से जिनकी वे

लगातार सेवा करते आ रहे थे—भक्तिपूर्वक श्री रामचन्द्रजी के चरणों में पहना दीं और विनय की—

'हे भाई, धरोहर की भाँति मैंने यह तुम्हारा राज्य अभी तक चलाया। आज मेरा जन्म सार्थक हो गया, मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये।' (अध्यात्म)

भरतजी की इस प्रार्थना का कोई उत्तर उस समय श्री रामजी ने नहीं दिया। पश्चात् जब श्री रामजी राजमहलों में पहुँचे तब कैकेयी-महल के भीतर पैर रखते ही उन्हें पूज्य पिताजी की याद आ गई। उनके नेत्रों से जल-प्रवाह होने लगा। सामने महारानी कैकेयी को देखकर उन्होंने बड़े विनीत भाव से कहा—

'माता, सत्य पर स्थिर रहने का फल स्वर्ग की प्राप्ति है। ऐसे कल्याणकारी सत्य से जो पिताजी नहीं डिगे, यह तुम्हारे ही पुण्य का प्रताप है। बारम्बार सोचने पर भी मुझे तुम्हारे पुण्य के सिवाय इसका और कोई अन्य कारण नहीं देख पड़ता। तुम्हारी ही कृपा से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई है।' (रघुवंश)

भरत की माता, जो अभी तक अपनी करनी पर लज्जित थी और अनुताप की अग्नि से झुलस रही थी, श्री रामचन्द्रजी के ऐसे उदार वचन सुन संकोच-रहित हो गई। उसके सामने साञ्जलि भरत ने फिर श्री रामजी से निवेदन किया—

'हे भाई! माता का सत्कार करके अथवा उसे सन्तुष्ट करने के लिए आपने मुझे जो राज्य प्रदान किया था, वही आपका राज्य मैं आपको उसी रूप में सौंपता हूँ।' (वाल०, अध्यात्म)

परन्तु इतने से ही तो श्री रामजी राज्य ग्रहण करनेवाले न थे। भरत को राज्य प्रदान करानेवाली तो उनकी माता कैकेयी थी। भरत के राज्य-परित्याग से क्या होता है? उनकी माता का मत क्या है, आदि प्रश्न कदाचित् उनके हृदय में हिलोरें ले रहे थे।

उनका ऐसा भाव समझकर अग्नि में तपाये हुए उज्ज्वल-कान्ति स्वर्ण-समान हृदयवाली विशुद्ध-चित्ता महारानी कैकेयी बोलीं—

'हे राम, तुमने मेरे वचनों का पालन किया, इससे मैं संतुष्ट हुई और बड़े सन्तोष से यह राज्य तुम्हें देती हूँ। मन में कोई विकल्प न कर इसे ग्रहण करो।' (अध्यात्म)

यद्यपि माता और भाई ने अपना सब स्वत्व श्री रामजी को समर्पित कर दिया तथापि उसे दान समझकर ग्रहण करने में उन्हें संकोच था। संकोच क्यों न हो? आदर्श उपस्थित करने के लिए ही तो उन्होंने संसृति-चक्र में फँसना स्वीकार किया था। उनकी मनोभावना को गुरुदेव वशिष्ठजी ने ताड़ा। इसलिए उन्होंने शीघ्र ही सार्वजनिक सभा आयोजित की और प्रजा-पंचों के सम्मुख इस प्रश्न को रक्खा। प्रजा की अनुमति प्राप्त कर लेने पर ब्राह्मण-वर्ग से (जो उस काल में उच्च राष्ट्रपरिषद्, कौंसिल आफ स्टेट या हाउस आफ लार्ड्स के समान था) पूछा—

सब द्विज देउ हरष अनुशासन।
रामचन्द्र बैठहिं सिंहासन॥ (मानस)

जब महर्षि वशिष्ठ के प्रस्ताव का अनुमोदन प्रजा-पंचों ने और समर्थन ब्राह्मणों ने कर दिया तब उन्होंने अभिषेक की तैयारी करने का आदेश दिया। अभिषेक-स्नान के पूर्व श्री रामजी ने भरतजी को अपने पास बिठा स्वयं अपने हाथ से उनका जटा-जूट सुलझाया। (निज कर जटा राम निरवारे)। फिर अन्य भाइयों को स्नान करने की अनुमति दे, श्री रामजी ने अपनी जटाएँ निकालीं और स्नान कर आभूषणादि धारण कर अभिषेक के लिए तैयार हुए। उपस्थित ब्राह्मणों को मस्तक नवाकर श्री रामजी सिंहासन पर विराजमान हुए।

प्रथम तिलक वशिष्ठ मुनि कीन्हा।
पुनि सब विप्रन आयसु दीन्हा॥

(मानस)

राजगुरु महर्षि वशिष्ठ ने सबसे प्रथम श्री रामचन्द्रजी को राजतिलक लगाया और आशीर्वाद दिया, फिर सब ब्राह्मण-मंडली ने। इस प्रकार धर्मनीति और राजनीति के विस्तृत प्रांगण में, जनमत का सुखद विटप आरोपित कर, उसकी शीतल-सुखद छाया में, श्री रामचन्द्रजी अवध राज्य के सर्वप्रथम 'प्रजासत्तात्मक' नरेश घोषित हुए।

राज्य-तिलक पूर्ण हो जाने पर श्री रामजी ने अपने अनुज वीर लक्ष्मण की रुचि जानने को उनसे कहा—

'जैसे पूर्वजों ने बड़ों की उपस्थिति में यौवराज्य किया था, वैसे ही तुम भी युवराज बनकर राज्य-कार्य में सहायता करो।'

(वाल०)

परन्तु लक्ष्मणजी भी तो इक्ष्वाकुवंशी और भरतजी के छोटे भाई थे। जिस 'ज्येष्ठ-श्रेष्ठ' की मर्यादा को भरतजी ने निर्धारित किया था तथा जो परम्परा रघुकुल की गुण-गरिमा थी, उसका उल्लंघन लक्ष्मणजी कैसे कर सकते थे? उन्होंने युवराजत्व स्वीकार न किया। तब धर्मात्मा श्री रामचन्द्रजी ने धर्मवीर भरत को, उनकी इच्छा और स्वीकृति न रहते हुए भी, युवराज घोषित कर दिया। श्री रामजी तथा उनके सब बन्धु परस्पर कार्य-विभाजन कर राज्य-प्रबन्ध में हाथ बँटाने लगे। धार्मिक और नैतिक प्रश्नों पर सर्वप्रथम भरतजी की राय ली जाती और मान्य की जाती। आर्यावर्त में 'राम-राज्य' स्थापित हुआ जिसके आदर्श की गाथा आज तक गाई जाती है।

वह यज्ञों का काल था। कुछ समय पश्चात् श्री रामजी के सामने राजसूय-यज्ञ करने का प्रस्ताव आया। उन्होंने अपने भाइयों की रुचि जाननी चाही। दोनों सौमित्र तो चुप रहे, परन्तु वाग्विशारद भरतजी ने निवेदन किया—

'हे महाबाहु, अमित पराक्रमी, साधु! आप में सर्वोत्कृष्ट धर्म, समस्त पृथ्वी और यश प्रतिष्ठित हैं। राजसूय-यज्ञ से क्या अधिक यश प्राप्त होगा? जितने राजा लोग हैं, वे सब और हम लोग आपको वैसा ही मानते हैं, जैसे देवतागण ब्रह्मा को। अतएव हे नर-शार्दूल, आपको पृथ्वी के समस्त वीरों का नाश करना उचित नहीं। वे सब आपकी अधीनता तो स्वीकार कर ही चुके हैं। (वाल०)

सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्रजी, भरतजी के वचनों से प्रभावित और प्रसन्न हुए और राजसूय-यज्ञ का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया। श्री लक्ष्मणजी के प्रस्ताव पर 'अश्वमेध यज्ञ' करना स्वीकार किया गया। उसकी समाप्ति पर केकय देश से युधाजितजी का सन्देशा आया कि गंधर्व देश-निवासी बड़े पराक्रमी और अत्याचारी हो गये हैं। उनका दमन करने श्री रामजी ने अपनी ओर से भरतजी को भेजा। अपनी स्वाभाविक वीरता से भरतजी ने गंधर्वों पर विजय प्राप्त की और वे पुनः श्री रामजी की सेवा में अयोध्या लौट आये।

सांसारिक अवधि पूर्ण होने के पूर्व, एक उपस्थित धर्मसंकट से श्री रामजी ने अपने सर्वदा के सेवक अनुज लक्ष्मण का परित्याग कर दिया और अपने आजीवन-सखा के बिछोह से दुखित हो राज्य-पुरोहित, मंत्री एवं पुरवासियों को एकत्र कर, सबके समक्ष श्री रामजी ने कहा—

'अब अयोध्या के राज-सिंहासन पर धर्मवत्सल भरत को बैठाकर मैं स्वयं वन को जाऊँगा।'

अपने पूज्य भ्राता के ऐसे वचन सुनकर भरतजी स्तब्ध हो गये। सचेत होने पर निवेदन किया—

'हे राजन्, रघुनन्दन! मैं सत्य की शपथ करके कहता हूँ, कि आपके बिना यह राज्य तो क्या, मैं स्वर्गलोक के राज्य को भी नहीं चाहता।'

भरतजी के त्याग-यज्ञ की यह पूर्णाहुति थी, जिसके सौम्य प्रकाश से धरा चमक उठी। उनका भायप, साधु-चरित्र, प्रेम, अनुष्ठान, त्याग और आत्मसमर्पण मानवलोक को पवित्र करने में समथ हुआ तथा अमरत्व प्राप्त कर देवलोक में श्रद्धा का विषय बना।

बीसवाँ प्रकरण

समापन

One great aim, like a guiding star above,
Which takes strength, wisdom stately-ness to lift.
Their manhood to the height that takes the Prize.
(Browning)

'संग्रह और त्याग' मानवी जीवन के दो पहलू हैं। मनुष्य की सारी मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ इन्हीं दो वृत्तियों का चक्कर काटा करती हैं। 'संग्रह और त्याग' का नैतिक सामंजस्य सफल जीवन का प्रमाण माना जाता है। जब तक इन वृत्तियों में नैतिकता का रस संचरित होता रहता है तब तक जीवन साधारण से भव्य और भव्य से दिव्य बनता जाता है और ज्यों ही वे अपने नैतिक आधार से च्युत होती हैं, जीवन निरी भौतिकता में विलिप्त हो, पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। अनेकानेक आपत्तियों में ग्रस्त मनुष्य यदि अपना बौद्धिक एवं नैतिक स्वास्थ्य धारण किये रहे तथा संग्रह और त्याग का उचित समन्वय करता रहे तो वह किसी भी आपत्ति-चक्र से अवश्यमेव मुक्ति पाकर ऊँचा उठ सकता और अपने संकीर्ण, कण्टकमय पथ को प्रशस्त एवं सुगम बना सकता है। भरत-चरित्र यही अर्थ प्रतिपादित करता है।

कहा जाता है कि 'आदर्श' केवल कल्पना की सृष्टि है। उसका कोई ऐसा पृथक् अस्तित्व नहीं जो हस्तामलकवत् प्राप्त हो सके। मस्तिष्क उसकी उत्पत्ति-भूमि है। संस्कृति उस भूमि की

उर्वरा शक्ति है। संघर्ष उस भूमि को जोतने-बखरने की क्रिया है तथा प्रेरणा वह नलिका है जिसके द्वारा उस भूमि में बीज बोया जाता है। अंकुर उत्पादन होने पर भावना-नीर से वह सिंचित किया जाता और त्याग की बाड़ी द्वारा उसकी रक्षा की जाती है। आदर्श की प्राप्ति के लिए साधक अपनी साधना द्वारा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों निकट आने की अपेक्षा आदर्श दूर होता जाता है। साधन का मार्ग संकटावरोधक होता जाता और परिस्थिति विकट और भीषण बनती जाती है। पग-पग पर साधक अपनी हीनता तथा आदर्श की उच्चता का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी नैराश्य से वह उत्साहहीन और व्याकुल हो जाता है। इन अवस्थाओं में भी यदि वह विघ्न-बाधाओं को सहन तथा पार कर अपने लक्ष्य पर दृष्टि जमाये रहा और सत्य संकल्प, दृढ़ निश्चय तथा आत्मविश्वास से आगे बढ़ता चला तो प्रभु-कृपा से पार पा जाता है, अन्यथा नहीं। इस दुर्गम यात्रा में श्रद्धा, विश्वास उसके सम्बल हैं और वैराग्य, विवेक हैं उसकी आत्मरक्षा के कवच तथा शस्त्र।

कविशिरोमणि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाषा में यों कहा जा सकता है कि इस संसार में आनन्द और कष्ट अथवा सुख-दुख दो ऐसी समानान्तर (parallel) रेखाएँ हैं जो जीवन में अथ से इति तक अमिट और अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती हैं। इन दोनों समानान्तर रेखाओं के बीच 'आदर्श' एक लम्ब (perpendicular) के समान खड़ी रेखा माना जा सकता है, जो अपने चरणों से दोनों रेखाओं को दाबे हुए सदा सीधे रूप में खड़ा रहता है। काल-धारा की गतिमान लहरें क्षण क्षण उसका अस्तित्व डिगाती हैं, उस लम्ब के उन्नत मस्तक को कभी दायें कभी बायें झुका देती हैं, कभी कभी उत्तुंग तरंगें उसे समतल भी कर देती हैं, परन्तु वह लम्ब अपना मस्तक सर्वदा को नत नहीं होने देता। धारा का वेग

निकल जाने पर वह आदर्श पुनः अपने पूर्व रूप में आ जाता और समानान्तर रेखाओं से समकोण (At right angle) खड़ा रहता तथा अनन्त की ओर बहता चला जाता है।

निर्भय और निश्चित गति से उन्नत मस्तक आगे बढ़ते रहने का सतत प्रयत्न, असाधारण निश्चय तथा अमित आन्तरिक बल के प्रभाव से ही सम्भव है। महात्मा कबीर का कथन है—

सीस उतारे भुइँ धरै तापर राखै पाँव।
कहै कबीरा बावरो ऐसा होय तो आव।

अर्थात् अपने हाथ से अपना मस्तक काटकर तथा अपने ही पैर से उस कटे हुए मस्तक को ठुकराने की जिसमें क्षमता और धारणा हो वही आदर्श-प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ने की चेष्टा कर सकता है, सब जन नहीं। धारणा तो बहुतेरे मस्तिष्कों में उत्पन्न हो जाती है परन्तु उसकी साधना आप ही आप प्राप्त नहीं हो जाती। उस सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिए जीव को शम, दम, यम, नियम, शुद्ध आचार-विचार, व्यवहार आदि का सतत पालन करना पड़ता है; बड़ी कड़ी तपस्या (discipline) की आँच में गल-गलकर अपने आप को शीतल करना पड़ता है। असंयमित अथवा अशासित (undiscinlined life) आदर्शवादी के लिए निरा प्रपंच है, अपने आप और संसार को धोखा देना है। यही कारण है कि आधुनिक घोर भौतिकता के युग में 'आदर्शवाद' (Idealism) एक असाध्य तथा न करने योग्य कार्य मान लिया गया है और उसका स्थान 'यथार्थवाद' (Realism) ले रहा है।

आर्यगण पहले से ही आदर्श के पूजक रहे। उनके तत्त्व-ज्ञानियों ने 'आदर्श' और 'यथार्थ' में भेद नहीं माना। उपनिषद् का वाक्य है—

'जो आदर्श है, वही सत्य है, वही यथार्थ है और जो यथार्थ है वही सत्य है, वही आदर्श है। भौतिक भोग और भौतिक पदार्थ यथार्थ नहीं, सत्य नहीं, शाश्वत नहीं, इस कारण आदर्श नहीं।'

इसी सिद्धान्त पर आर्य ऋषियों ने सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था भी स्थापित की और उसी सिद्धान्त की पूर्ति के उद्योग में उनका प्रगतिशील विकास बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में हुआ।

त्रेता युग में आर्यों की राजकल्पना का 'आदर्श' था 'राम-राज्य' और राजा के आदर्श थे 'श्री रामचन्द्रजी।' प्रजा के सुख-दुख और राजा के सुख-दुख एक थे, क्योंकि प्रजा और राजा का परस्पर सम्बन्ध प्रकृति और पुरुष जैसा माना गया था। 'आदर्श' और 'यथार्थ' एक ही था। उसमें भिन्नता न थी। इस कारण ऋषियों ने जहाँ आदर्श राज्य की स्थापना के लिए श्रम किया वहाँ आदर्श राजा, राजमहिषी, आदर्श बन्धु, आदर्श सेवक और कर्मचारी (सब एक ही माला के मणिका के रूप में) एक ही काल में, एक ही सिद्धि के हेतु उत्पन्न हुए। वे शिक्षित और संस्कृत किये गये तथा उन सबके सहयोग से जो आदर्श-समाज बना वह 'भूतो न भविष्यति' सिद्ध हुआ। आर्यावर्त के रंगमंच पर साकेत के सभी पात्र एक दूसरे के पूर्ण सहकारी बने और एक के द्वारा दूसरे का, दूसरे से तीसरे का और इसी क्रम से सब पात्रों का अप्रतिम विकास हुआ और यहाँ तक हुआ कि सभ्य, अर्धसभ्य एवं असभ्य जातियों का बहुत सा भेद मिटकर 'श्री राम-पंचायतन' में वानर वीर हनुमानजी भी स्थान पा गये और विभीषण तथा गुह सखाओं के स्थान में लेखे जाने लगे। ज्यों ही श्री रामचन्द्रजी अनेक क्षेत्रों में आदर्श स्थापित करने को अग्रसर हुए कि उनके अनुज भी अपने अपने क्षेत्रों में पीछे न रहे। सबने एक दूसरे को पूर्ण सहयोग दे, आर्य संस्कृति को ऐसा प्रदीप्त किया कि उसकी उज्ज्वल प्रकाश-छटा आज तक

चमक रही है। युगान्तर और कालान्तर से भी उसमें न्यूनता नहीं आई। भारतीय-गगन में श्री रामचन्द्रजी का यश-सूर्य, उनकी कठोर कर्त्तव्य-परायणता के कारण आज भी प्रबल तेज से देदीप्यमान है और आधुनिक समाज उस तेज के प्रखर ताप का अनुभव करता है। उसी नभ में उसके अनुज भरतजी का कीर्ति-राकेश भी भावना और त्याग की प्रभा फैला रहा है, जिसकी स्निग्ध, सौम्य सुधावर्धक कलाएँ गृहस्थी और भक्तों के चित्त को अपनी कान्ति से मोहित एवं वर्द्धित करती हैं। 'मानस' में महर्षि भरद्वाज ने उस नवीन भरत चन्द्र का वर्णन इस प्रकार किया है—

> नव विधु विमल तात यश तोरा।
> रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥
> उदय सदा, अथइय कबहूँ ना।
> घटहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
> निशि दिन सुखद सदा सब काहू।
> ग्रससि न कैकय-कर्तब-राहू॥
> पूरण राम सप्रेम पियूषा।
> गुरु-अपमान दोष नहिं दूषा॥

इसमें सन्देह नहीं कि यदि श्री रामचन्द्रजी आर्य-कुल-दिवाकर थे तो भरतजी भी उसी कुल के सुधाकर थे। एक अपने शौर्य, पराक्रम और कर्त्तव्यपरायणता के कारण तेजस्वी हुए और उन्होंने अपनी गरिमा से समाज को आगे बढ़ाने का बल प्रदान किया तो दूसरे भी अपने अपूर्व त्याग और पवित्र प्रेम-भावना के कारण दीप्यमान हुए। उन्होंने पोषक रस का संचार किया। अंधकारपूर्ण विषाक्त वातावरण के भयंकर वृत्त में घिरे हुए भरत ने अपने शुद्ध आचरण, सरल व्यवहार, प्रत्युत्पन्न मति तथा सहज सहृदयता के बल से, न केवल अपना ही उद्धार किया वरन् अपनी कलंकित

माता, सशंकित विमाता, उत्तेजित प्रजा और ज्ञानी गुरुदेव तक के हृदयों को निर्मल कर उन्हें सर्वग्राही आवर्त से उबार दिया। प्रतीत तो यही होता है कि भरतजी की सदाशयता के अभाव में कदाचित् श्री रामचन्द्रजी भी वे कार्य न कर सकते जिनके लिए उनकी प्रसिद्धि है। यदि श्री रामजी के सन्मार्ग में, भरतजी प्रेमवश या प्रमादवश अवरोध उत्पन्न कर देते तो वनवास कदाचित् ही सिद्धिप्रद होता। चौदह वर्ष के दीर्घ काल में भरत का सौहार्द, निष्ठा और तप श्री रामचन्द्रजी के नेत्रों के सम्मुख मूर्तिमंत रहा और उन्हें बल देता रहा। पिताजी की जिस आज्ञा का प्रफुल्ल हृदय से पालन करने से श्री रामचन्द्रजी कीर्तिमान हुए, उसी आज्ञा की सविनय अवज्ञा कर भरतजी भी यशस्वी बने, यह बात आश्चर्यजनक होते हुए भी सत्य है। यथार्थ में श्री रामचन्द्रजी लोक-संग्रह से त्याग की सिद्धि कर रहे थे और भरतजी त्याग से लोक-संग्रह की। संग्रह में त्याग और त्याग में संग्रह का सामंजस्य था। इसी कारण दोनों जीवन सफल और आदर्शस्थानीय बने।

जिस कार्य के करने से एक यशस्वी बने, उसी कार्य का विरोध करने पर दूसरा भी यश का भागी माना जावे, इस चमत्कृत विरोधाभास का विश्लेषण करने पर उसका असली रूप प्रकट होता है। यह मानी हुई बात है कि किसी भी कार्य की महत्ता उसके सम्पादन अथवा असम्पादन से सिद्ध नहीं होती और न कार्य की पूर्ति उसके साधनों को प्रमाणित ठहराती है। कार्य की गुरुता और उच्चता का माप उस भावना पर निर्भर रहता है जिससे प्रेरित होकर वह कार्य किया जाता है। नैतिकता की कसौटी पर उसकी परीक्षा की जाती है। श्री रामचन्द्रजी तथा भरतजी की उन अन्तरंग भावनाओं का विवेचन करने पर प्रतीत होता है कि मानव-समाज की रक्षा के लिए श्री रामजी ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की और उसका पालन करने के हेतु उन्हें घनघोर विपत्ति

के जंगलों में कष्टप्रद जीवन व्यतीत करना पड़ा, अनेक संकटों को झेलना पड़ा। उसी समाज की रक्षा के लिए भरतजी ने पिता की आज्ञा अमान्य कर दी। फलस्वरूप उन्हें भी तपस्वी बन चौदह वर्ष तक वे मानसिक और शारीरिक कष्ट उठाने पड़े, जो अपनी कटुता में वनवासियों के कष्टों से कम न थे। पुत्र-धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए एक ने राज्य परित्याग किया तो भ्रातृ-धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए दूसरे ने भी उसे ठोकर लगा दी। एक व्यक्ति मिलनेवाली वस्तु न मिलने पर उसका मोह त्याग दे और दूसरा व्यक्ति सहज प्राप्त वस्तु को अपनी न लेख उसे फेक दे, इसमें किस व्यक्ति की त्याग-भावना उच्च है, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं करें।

जीवन की सच्ची महत्ता, स्वेच्छापूर्वक धारण की हुई परस्वार्थ-वृत्ति पर निर्भर है। जो पुरुष परोपकार के हेतु जितना अधिक भार वहन करता है, जितना अधिक कष्ट सहन करता है, वह उतना ही महत् माना जाता है। रामनिर्वासन का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले, स्वेच्छा से अपने को ही सारे अनर्थ का मूल मान, भरत ने किस किस का मुँह उज्ज्वल नहीं किया और फिर भी चौदह वर्ष तक अयोध्या-राज्य का निःस्वार्थ भार वहन कर, वियोग-व्यथा का आन्तरिक कष्ट सहन करते हुए, साकेतवासियों की—ऋषि-मुनियों की और सारे समाज की—जो सेवा की, उन कार्यों के लेखे-जोखे से उनकी जीवन-महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

यदि उन विभूतियों के चित्रों को (जो महर्षि वाल्मीकि ने चित्रित किये हैं) साधारण मानवी दृष्टि से आँका जावे तब भी आदर्श चित्रण के नाते, भरतजी ही सर्वप्रथम स्थान पाते हैं। 'परम बुद्धिमान्', 'विश्वस्त' और 'धर्माग्रणी' मानते हुए भी महाराज दशरथ ने उनके ऊपर सन्देह कर दिया—'किन्तु चित्तं

मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः' और इसी सन्देह-विष के कारण कैकेयी का क्रोध पराकाष्ठा को पहुँचा। इतना ही नहीं किन्तु केवल कैकेयी-कुक्षित्पन्न होने के कारण महाराज दशरथ ने, अपनी अन्त्येष्टि के लिए अबोध भरत को, अयोग्य ठहरा दिया और कैकेयी के साथ साथ उसके औरस पुत्र को भी त्यक्त कर दिया। यद्यपि वीर लक्ष्मण ने तो क्रोध में आकर अपने पिता को भला-बुरा भी कह डाला परन्तु भरत ने उनके आदर-मान एवं प्रतिष्ठा के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। माता कौशल्या, गुरुदेव वशिष्ठ और त्रिकालज्ञ भरद्वाज भी सर्वथा निर्दोष भरत से अकारण शंकित हो गये परन्तु आहत होकर भी भरत सदा उनके चरण चुम्बन करते रहे। जिसके प्राण तक अपहरण करने की ठान, वीर बन्धु लक्ष्मण ने अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे डाला, उसी विशाल-हृदय भरत ने स्वप्न में भी अपने भाइयों की अहित-कल्पना नहीं की वरन् वह लक्ष्मण को बड़भागी समझता और मानता रहा। उसके हार्दिक उद्गार थे—

'लक्ष्मण' तू धन्य है जो राजीवलोचन श्री राम के चन्द्र समान उज्ज्वल मुख को देखता है।' (वाल०)

जीवन-लाहु लखन भल पावा।
सब तजि रामचरन मनु लावा॥ (मानस)

वही भरत यदि उन सब विभूतियों में उच्च स्थान न पावे तो और कौन उस पद का अधिकारी हो सकता है? महा यशस्वी धीर-वीर श्री रामचन्द्रजी ने भी, जो भरत को सदा प्राणप्रिय कहा करते थे, वन की प्रारम्भिक यात्रा में कह डाला कि 'भरत राज्य पाकर प्रसन्न होंगे' तथा श्री सीताजी से भी ये शब्द कह दिये कि 'तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना, क्योंकि ऋद्धियुक्त पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सुनना चाहता।' परन्तु भरत अपने

अग्रज को सदा पिता-तुल्य एवं ब्रह्म-तुल्य मानते रहे तथा जो श्री रामजी के कष्टों का स्मरण कर अपनी संज्ञा खो बैठते और जिन्होंने उनकी चिन्ता हलकी करने के निमित्त चौदह वर्ष कठोर तप में बिता दिये, और बड़े भाई के वन से वापस आने पर समृद्ध राज्यश्री उनको अर्पित कर दी, उन भरत को मानवता के नाते सर्वप्रथम स्थान सहज प्राप्त है। 'साकेत' के कवि ने श्री रामजी द्वारा चरणलुण्ठित भरत को यह प्रमाण-पत्र दिलाकर उचित ही किया—

उठ भाई, तुल सका न तुझसे राम खड़ा है।
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।

'मानस' की चित्रशाला में प्रवेश करने पर यह भासित होता है कि भक्त कवि तुलसीदासजी ने भरतजी का आश्रय लेकर एक सद्भक्त का आजीवन कार्यक्रम एवं उसकी चिर साधना का उल्लेख किया है। उन्होंने सब पात्रों को यथासंभव श्री रामजी का भक्त ही माना है, यहाँ तक कि कोशलेश के अटल विरोधी राक्षसराज रावण, उसके भाई कुम्भकर्ण, सहकारी मारीच आदि को भी भक्तों की पंक्ति में उन्होंने बैठा दिया है। कोई मित्र भाव से, कोई शत्रु भाव से, कोई समभाव से, कोई विषम भाव से श्री रामजी की भक्ति करता हुआ उन्हें प्रतीत हुआ है। सन्त तुलसीदासजी का हृदय भक्तिरस से ओत-प्रोत था। 'सिया-राम-मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।' की अनुभूति से प्रेरित भक्त कवि इस संसार में अभक्त की कल्पना ही नहीं कर सकता था। फिर जहाँ उसे यथार्थ भक्त का दर्शन हो गया वहाँ तो सन्त कवि की वाणी सुधा-संगीतमयी हो उठी है। भक्ति पथ के रहस्य का उद्घाटन जिस सरसता, सरलता, सफलता और निर्भयता से श्री तुलसीदासजी ने किया है वैसा निरूपण भाषा-साहित्य में

अन्य किसी कवि से नहीं बन पड़ा। इस कारण यदि 'मानस' को भक्ति शास्त्र या भक्तोपनिषद् माना जावे तो किञ्चित् अतिशयोक्ति नहीं। भरत-चरित्र द्वारा, कवि-कुल-मुकुट तुलसीदास ने भक्ति की सांगोपांग व्याख्या की है और उसे जीवन-साफल्य का प्रधान साधन माना है।

शास्त्रकारों ने, ईश्वर के प्रति स्वाभाविक उत्कण्ठा और प्रेम को भक्ति की संज्ञा दी है। भक्ति, हृदय का वह अपूर्ण अनुराग है जो बुद्धि एवं तर्क से परे है। सत्य प्रेम का ही उपनाम भक्ति है। जब साधारण मानवी प्रेम बिना त्याग और बलिदान के सार्थक नहीं होता तब ईश्वरीय प्रेम और भक्ति बिना संयम, तप और त्याग के कैसे सिद्ध हो सकती है? स्वार्थयुक्त भक्ति हैतुकी और निष्काम भक्ति अहैतुकी मानी गई है। निःस्वार्थ भक्ति ही सर्वोपरि है।

आधुनिक युग में भक्ति-विज्ञान की ओर बहुधा विज्ञजन अतृप्त एवं शंकित रूप से दृष्टिपात करने लगते हैं और अपनी शुष्क तार्किक बुद्धि के सहारे 'भक्ति' को अन्ध श्रद्धा और विश्वास का उपनाम दे उसे अमान्य ठहराने की चेष्टा करते हैं। ये महानुभाव मस्तिष्क को ही उच्चता प्रदान करते, केवल बुद्धि को ही सत्यासत्य का एकमात्र निर्णायक मानते और हार्दिक अनुभूतियों तथा भावनाओं को वैयक्तिक दौर्बल्य की उपाधि देते हैं। समाज के हित के लिए वे सदाचार की आवश्यकता तो मानते हैं परन्तु 'धर्म' के नाम से दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। वे बहुधा भूल जाते हैं कि बिना धर्म के संसार स्थित ही नहीं रह सकता।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत)

धर्म वह है जो धारण (hold) करे। समाज को धारण याने व्यवस्थित रखनेवाले नियम या धारणा 'धर्म' है। सदाचार तो धर्म का आचरण है। धर्म मूल गुण है और सदाचार उसका लक्षण या रूप है। मूल को तिरस्कृत कर उसके रूप को मानना वैसा ही है जैसा जीवित पुरुष का निरादर कर उसके चित्र को नमन करना। श्री तुलसीदासजी के मतानुसार श्रद्धा और विश्वास के अभाव में धर्म की स्थिति नहीं हो सकती—

श्रद्धा बिना धरमु नहिं होई।
बिनु महि गंध कि पावे कोई॥
... ...
कवनउँ सिद्धि कि बिन बिस्वासा?

इस विषय की अधिक विवेचना न कर, महात्मा गांधीजी के 'धर्म-पथ' के कुछ उद्धरण दे देना ही पर्याप्त होगा—

'श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तःज्ञान की वृद्धि होगी और बुद्धि से बहिर्ज्ञान की। बाह्य ज्ञान से सृष्टि की वृद्धि होती है परन्तु अन्तःशुद्धि से उसका कार्यकारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली चरित्रभ्रष्ट हो सकते हैं, परन्तु श्रद्धा के साथ चरित्रहीनता होना असम्भव है।'

श्रद्धा बुद्धि से परे है। जहाँ बुद्धि निरुपाय हो जाती है वहाँ श्रद्धा का आरम्भ होता है। (Religion begins where reason fails) इस पर से कई बुद्धिमानों को शक हो जाता है कि यदि श्रद्धा बुद्धि से परे है तो वह अन्धी होनी चाहिए। मेरा मत इससे उलटा है।......

'किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभव पर अवलम्बित है।......परन्तु श्रद्धावान् कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता,

क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय पुरुष जड़रूप है या जड़ बन जाता है। बुद्धि का उत्पत्ति-स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय। यह तो जगत् का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धिबल से हृदयबल सहस्रशः अधिक है। श्रद्धा से जहाज चलते, श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है। बुद्धिमान् को पराजय का डर रहता है। श्रद्धावान् को कोई परास्त नहीं कर सकता। इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही बनता है। यह तो मानी हुई बात है कि केवल बुद्धि के सहारे इस विशाल विश्व का ज्ञान प्राप्त भी नहीं हो सकता। विश्वास और श्रद्धा का आश्रय लेना ही पड़ता है।'

श्रद्धा से आन्तरिक मलिनता दूर होती और अन्तःशुद्धि के बल पर भक्त कठिन से कठिन सहन करने की अडिग शक्ति प्राप्त कर अभय और अजेय बन जाता है। शम, दम, यम, नियम के कठोर अनुशासन में अपने शरीर और इन्द्रियों को कसकर, भक्त नम्र कर्मयोगी बनता तथा कर्मफल-त्यागी होने पर स्थितप्रज्ञ हो जाता है। अन्त में, 'निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं विरोध' के तत्त्व को अपनाकर, विश्वप्रेम से परिपूर्ण भक्त अपने सदाचरण एवं सद्व्यवहार से, अद्वेषी, दयालु, क्षमावान्, निस्पृह, अनुद्विग्न तथा समद्रष्टा होकर, सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति का यथाक्रम अधिकारी बन जाता है। सुगम कहे जाने-वाले भक्ति योग की यही कठिन साधना है।

भरत-भक्ति का उद्घाटन विशेषकर उस समय से प्रारम्भ होता है जब वे मातुलगृह से लौटकर अयोध्या आते हैं। उस समय उनकी मानसिक स्थिति अतीव अशान्त प्रतीत होती है। शोक,

भय, उद्विग्नता आदि उनके चित्त को विक्षिप्त करते दृष्टि आते हैं। नगर में प्रवेश करने पर यह क्षोभ घटने की अपेक्षा बढ़ता ही जाता है। जिस ओर वे देखते हैं उसी ओर उदासीनता की छाया दिखती है। प्राकृतिक सौन्दर्य मनोमोहक न होकर भयावना लगता और चारों ओर विपरीत भावनाओं का साम्राज्य दिखता है। इस परिवर्तन का कारण उन्हें ज्ञात नहीं। यहाँ भरतजी प्रथमतः एक मुमुक्षु के रूप में प्रकट होते हैं। महारानी कैकेयी से भेंट होने और राम-वनवास का हाल जानने तक वे जिज्ञासु-रूप में, तत्पश्चात् आर्त और फिर अर्थार्थी के रूप में उपस्थित होते हैं—

माँगहिं हृदय महेस मनाई।
कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

मुमुक्षु अवस्था प्रकट करती है। ईश्वर में श्रद्धा का सूत्रपात स्पष्ट झलकता है।

कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता।
... ...
भरतहिं बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम-बन-गौन।

आदि शब्दावली जिज्ञासु-अवस्था की द्योतक है।

रहे न आरत के चित चेतू।
... ...
आरत काहि न करै कुकर्म।
... ...
सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ।

आर्त और अर्थार्थी अवस्था प्रतिपादित करते हैं।

ये सब उद्वेग गौणी अर्थात् हैतुकी भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं। वे क्षोभमूलक हैं परन्तु उनका आधार नैतिक होने के कारण वे मानसिक शुद्धि के कारक बन गये हैं। आगे चलकर

विश्वास और श्रद्धा की भूमि पर विरति का भाव तीव्र होता गया है—

मैं अनुमान दीख मनमाहीं।
आन उपाय मोर हित नाहीं॥
शोक समाज राज किहि लेखे।
लखन राम सिय पद बिनु देखे॥

... ...

जाय देह बिनु जीव सुखाईं।
वादि मोरि सब बिनु रघुराई॥

... ...

बिन देखे रघुवीर-पद जिय की जरनि न जाय।

... ...

आन उपाय मोहि नहिं सूझा।
को जिय की रघुवर बिनु बूझा॥

... ...

तदपि शरण सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥

... ...

यद्यपि जनम कुमातु त मैं शठ सदा सदोस।
आपन जान न त्यागिहैं मोहि रघुवीर भरोस॥

चित्रकूट-यात्रा में ऐसा मालूम होता है मानों भक्त आत्म-ग्लानि से तप्त होकर अपने प्रभु के सन्मुख अपना हृदय उड़ेलने जा रहा है। वह भगवान् की चिर कृपा का स्मरण करता है और प्रभु भी अपने भक्त की सराहना करते हैं। यदा कदा भक्त भरत को प्रभु-अनुग्रह का सन्तोष भी मिलता जाता है तथा उसका विश्वास दृढ़ होता जाता है, कि भगवान् भक्त की आर्त पुकार सुनेंगे और दर्शन देकर तुष्टि प्रदान करेंगे। परन्तु सन्तोष संशयात्मक है। शंका का कारण यह है कि भक्त को अभी तक

पूर्ण 'गुरु-कृपा' उपलब्ध नहीं हुई। गुरुभक्ति, सच्ची हरिभक्ति की विशेष साधक मानी गई। गुरु और गोविन्द की तुलना करते हुए सन्तों ने कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाँय।
बलिहारी उन गुरू की जो गोविन्द दियो बताय॥
वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः आदि

श्री रामचन्द्रजी तो आदर्श गुरुभक्त थे ही। गुरुवचन के सम्मुख वे अपना अस्तित्व तक लोप कर देने को उद्यत थे। धर्म-संकट के समय वे गुरु-वचन का ही आश्रय ताकते थे। किन्तु प्रारम्भ में भरतजी की गुरु-भक्ति पूर्ण दृष्टिगोचर नहीं होती। महाराज दशरथ की अन्त्येष्टि के उपरान्त जब महर्षि वशिष्ठ ने भरतजी से राज्यासीन होने को कहा, तब उन्हें गुरुदेव के हृदय में संशय की छाया भासित हुई और उनके वचन या आज्ञा की अवहेलना कर भरतजी ने चित्रकूट जाने की ठानी। उस समय तक गुरुदेव को भी भरतजी की श्री रामचन्द्रजी में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास विदित नहीं हुआ था। चित्रकूट में गुरुदेव ने भरत-भक्ति की परीक्षा ली और उनको रामभक्ति से ओत-प्रोत पाया। उसी समय उन्हें यह विदित हुआ कि भरतजी श्री रामजी के हेतु अधिक से अधिक त्याग करने और संकट झेलने को तत्पर हैं। तब भी गुरुदेव उनसे प्रसन्न हुए और उन्होंने भरत को अपने हृदय में स्थान दे, तुरन्त ही श्री रामजी के सम्मुख उपस्थित कर दिया। जब गुरुकृपा का पूर्ण वरदान प्राप्त हुआ तभी भक्तात्मा परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात् उपलब्ध कर सका। प्रभु का स्नेह-पूर्ण आश्वासन पाकर—

भरतहिं भयउ परम संतोषू।
सनमुख स्वामि विमुख दुख दोषू॥
मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू।
भा जनु गूँगेहि गिरा-प्रसादू॥

चित्रकूट में भक्त को भगवान् का अनुग्रह प्राप्त हुआ। संतोष प्राप्त होने पर भक्त ने अपना मन श्री चरणों में समर्पित कर दिया। परन्तु अभी तक भरतजी की बुद्धि उनके पास थी। वह भगवान् को समर्पित न हुई थी। अयोध्या वापिस आने पर, भगवत्प्रतीक की स्थापना कर उपासना के हेतु साधना-पथ पर आरूढ़ होने के पूर्व भक्त भरत ने गुरुदेव से याचना की—

आयसु होय तो रहौं सनेमा।

गुरुदेव ने यह जानकर कि भक्त अब अपनी बुद्धि भी भगवान् को समर्पित करने जा रहा है, उसे आशीर्वाद दिया—

समुझब कहब करब तुम सोई।
धर्मसार जग होइहि जोई॥

इसके पश्चात् 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' को सार्थक करता हुआ, आत्मसंयम के कठिन नियम धारण कर, सांसारिक सुख से मुख मोड़, भक्त अपनी साधना में अनुरक्त होता है, और तपाग्नि में शारीरिक एवं मानसिक विकार को भस्म कर शुद्ध आध्यात्मिक (अहैतुकी) भक्ति का परिपाक सिद्ध करने में लीन होता है। इस काल में भी यदा कदा उसके चित्त में आर्त और अर्थार्थी भाव प्रकट होते हैं, परन्तु उनका उद्वेग क्षणिक और रूप शुद्ध सात्विक है। चौदह वर्ष की अविकल साधना के पश्चात् पूर्ण विरति और विवेक से युक्त भक्त, जिसकी वस्तु उसे सौंप, आत्मसमर्पण करता और जीवन् मुक्त अवस्था प्राप्त कर भक्तों के लिए आदर्श बन जाता है।

श्री तुलसीदासजी के मतानुसार भक्त अपनी मुक्ति का भी इच्छुक नहीं होता। मुक्ति तो भक्त के पीछे पीछे फिरती है परन्तु वह अपने आराध्य के सिवाय उसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करता।

अस विचार हरिभगत सयाने।
मुकुति निरादर भगति लुभाने॥

भगवान् श्री कृष्णजी ने स्वयं कहा है "मेरा भक्त न ब्रह्मा का पद चाहता है, न इन्द्र का, न सार्वभौमिक राज्य चाहता है न पाताल का स्वामित्व। वह पुनर्जन्म से छुटकारा पाने तक की आकांक्षा नहीं रखता। वह तो मेरे सिवाय और कुछ नहीं चाहता"
(श्रीमद्भागवत स्कं० ११, अ० १४)

यहाँ इस बात का किञ्चित् उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि भरतजी की भक्ति वियोग-भक्ति थी, श्री लक्ष्मण के ठीक विपरीत। श्री लक्ष्मणजी की भक्ति संयोग-भक्ति थी। श्री रामजी के वे अनन्य सेवक थे। 'मानस' में आदर्श सेवक के नाते उनका अत्यन्त उज्ज्वल स्फूर्तिदायक चित्र खींचा गया है। बाल्यावस्था से ही वे श्री रामजी के बहुत निकट रहे और समयान्तर से अपने अग्रज में उनकी सेवा-भावना ऐसी जाग्रत हुई कि भिन्नशरीरी होते हुए भी वे श्री रामजी के अभिन्न अंग हो गये। हर समय, हर स्थिति में लक्ष्मणजी को, श्री रामजी का सान्निध्य प्राप्त होने से वे सेवक भक्ति के विशेष अधिकारी बन गये। इस भावना का निर्वाह उन्होंने आद्योपान्त किया। सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है। सेवक अपने स्वामी की आज्ञा का पालक तथा उसकी अभिरुचि का दास होता है। उसका स्वामि-प्रेम किस हद का होता है, इसका उदाहरण वह प्रसंग है जब श्री रामजी वन जाने की तैयारी कर अपनी माता कौशिल्या से आज्ञा लेने उनके महल में पधारे। कैकेयी-भवन के षड्यंत्र का पता लगते

ही सेवक लक्ष्मण उपस्थित हो गये। वे व्याकुल थे, शरीर में कम्प उठ रहा था, मुँह से शब्द नहीं निकल रहा था। 'क्या होनेवाला था और क्या हो गया' इस विषय पर मन ही मन सोच रहे थे, झुँझला रहे थे। चिन्ता केवल इतनी थी—

मो कहँ काह कहब रघुनाथा।
रखिहैं भवन कि लैहैं साथा ?

श्री रामजी ने उस महान् स्वरूप को देखा जिसने देह-गेह से मुख मोड़ लिया था और जो कटिबद्ध हो चुपचाप उनकी ओर देख रहा था। तब बड़े स्नेहयुक्त भाव से श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी को समझाने लगे—

अस जिय जान सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं।
राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं॥
... ...
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
जासु राज्य प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

तब परम सेवक लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

नर-वर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम नीति कहँ ते अधिकारी॥
... ...
धरम नीति उपदेसिय ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
जहँ लग जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥

मोरे सबइ एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरयामी॥

लक्ष्मणजी की ऐसी अद्भुत भावना और प्रीति देखकर श्री रामजी को उन्हें साथ चलने की आज्ञा देनी ही पड़ी। तात्पर्य यह कि लक्ष्मणजी थे श्री रामजी के अनन्य सेवक। सेवक स्वामी से विलग नहीं हो सकता। स्वामी के निकट रहने से ही उसका सेवा-धर्म प्रतिफलित हो सकता है। आराध्य समीपस्थ होने पर ही सेवा पूर्णरूपेण सफल हो सकती है, परोक्ष में नहीं। परोक्ष सेवा भक्ति के अन्तर्गत स्थान पाती है। इस तरह यदि लक्ष्मणजी थे भगवान् के कर्मनिष्ठ सेवक तो भरतजी थे उनके सत्यनिष्ठ अनन्य भक्त। यह भी मानना पड़ता है कि लक्ष्मणजी को अपनी सेवा का भान था, बल्कि कुछ अभिमान था। मेघनाद से युद्ध करने को जाते समय जब लक्ष्मणजी ने धनुष-बाण सँभाला तब उनके मुख से ये शब्द सहसा निकल ही गये—

जो तेहि आज बधे बिनु आवौं,
तो रघुपति-सेवक न कहावौं॥

इसी तरह चित्रकूट में—

आज राम - सेवक - जस लेऊँ।
भरतहि समर सिखापन देऊँ॥

उच्चारण कर सेवक लक्ष्मण ने भक्त भरत की महत्ता घटाने की अपेक्षा पढ़ा दी। सेवक-यश के रूप में सेवा का पुरस्कार लेना चाहता था परन्तु भक्त-चिन्तन तो कुछ भिन्न ही था—

सहज सनेह स्वामि - सेवकाई।
स्वारथ, छल, फल चार विहाई॥
अर्थ न धर्म न काम-रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन॥

भरतजी इसी भक्ति-भाग्य की मूर्ति थे। सन्त विनोबा भावेजी का लेख है —

'शारीरिक संगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्त्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का पानी ओढ़े हुए सोया पत्थर गीले-पन से बिलकुल अलिप्त रह सकता है। उलटे, शारीरिक वियोग में ही मानसिक संयोग हो सकता है। उसमें संयम की परीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढ़ती ही है।.....भक्ति का अर्थ बाहर का वियोग स्वीकार कर अन्दर से एक हो जाना है। यह कोई ऐसा वैसा भाग्य नहीं, परमभाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था।' (वि०वि०)

त्रेता और द्वापर युगों में कुछ महाभाग्यवानों को संयोग भक्ति का लाभ उपलब्ध भले ही हुआ हो, आधुनिक काल में तो हर एक साधक को भरत समान वियोग भक्ति का ही आश्रय है। तुलसीदास जी की भी यही दशा थी। इस कारण भरतजी में उन्हें साम्य मिला। इसी कारण भक्त कवि ने भरतजी को एक जीव (Ego) का प्रतिनिधि मान उसके कर्म, आचरण, विचार और धारणा द्वारा यह दरसाने का प्रयत्न किया है कि वह जीव, जिसके प्रभु ओझल हो गये हों, किस मान्यता और साधना से उनका साक्षात्कार कर सकता और अभिन्नता प्राप्त कर सकता है। सच कहा जावे तो भक्त का महत्त्व ही इसी हेतु है कि वह अदृश्य भगवान् को प्रकट करता है। यदि भक्त न हो तो भगवान् के दर्शन भी किसी को न हों! यह सिद्धि सम्पादन करने के लिए भक्त प्रथमतः भगवान् को अपने में ही प्रकट करता है। वह अपने आराध्य के रूप, गुण और चरित्र को पहिले अपने हृदय में उतारता है और केवल वे कार्य करता है जिनसे उसके देव प्रसन्न हों और उनके अनुराग की उस पर वृष्टि हो। जिस प्रकार चन्द्र में सूर्य की ज्योति प्रतिबिम्बित

होती है उसी प्रकार भक्त के हृदय-मण्डल में तथा उसकी इन्द्रियों के आचरण और व्यवहार में भगवान् की महिमा तथा प्रकाश झलकने लगता है। संक्षेपतः भक्त वह पट है जिस पर भगवान् का चित्र खिंचता है। इसी कारण शास्त्र यह कहते हैं कि भक्त की रुचि के अनुसार भगवान् को कार्य करना पड़ता है; परन्तु भक्त की क्षमता भी वैसी हो।

भक्तों के इतिहास में पाया जाता है कि कभी कभी भक्तों ने अपनी टेक से भगवान् को झुकाया है और भगवान् ने झुककर भक्त की महत्ता स्थापित की है। परन्तु भक्त भरत के चरित्र में यह भी एक अनूठापन पाया जाता है कि श्री रामजी को अपने वश में पाकर भी भरतजी ने उन्हें झुकाया नहीं वरन् स्वयं ही झुक गये। चित्रकूट में जब श्री रामजी ने यह कह दिया—

मन प्रसन्न करि सकुच तज, कहहु करौं सो आज।

तब भरतजी ने सारा भार अपने ऊपर ले, श्री रामजी को सत्य पथ से न डिगा, सन्मार्ग से न हटा, भक्ति की मर्यादा स्थापित कर भक्तों के इतिहास में अमर एवं अनुपम पद पा लिया। उनकी भक्ति का उत्कर्ष देखकर ही ज्ञानी मिथिलेश ने महारानी सुनयना से कहा था—

देवि, परन्तु भरत-रघुवर की—
प्रीति प्रतीति जाय नहिं तरकी ॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे।
भरत न स्वप्नेहु मनहु निहारे ॥
साधन सिद्धि राम - पद - नेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥

चित्रकूट-यात्रा में ही भरतजी की श्रीराम-चरणों में ऐसी अथाह प्रीति और पूर्ण आत्म-समर्पण की वृत्ति देखकर स्वार्थी

देवगण चिन्तित हो गये थे। उनको भय होने लगा कि भरतजी की प्रेम-भावना और अनुरोध के सामने कदाचित् भगवान् की कर्त्तव्य-कठोरता तथा प्रण-प्रेरणा स्थिर न रह सके। और, ऐसा हो जाने से देवकार्य (रावणादि का वध) सिद्ध न हो सकेगा। शंकित और भयभीत देवगणों ने सभा आयोजित की और देवराज इन्द्र ने प्रस्ताव किया कि वे उपाय सोचे जावें जिनसे भरतजी का श्री रामजी से साक्षात्कार न हो सके—

राम - सकोची प्रेम - बस भरत सप्रेम पयोधि।
बनी बात बिगरन चहत करिय जतन छलु सोधि॥
(मानस)

तब ज्ञानी गुरुदेव बृहस्पतिजी ने देवराज को फटकारा—

माया-पति-सेवक सन माया,
करिय तु उलटि परै सुरराया॥......
सुन सुरेश रघुनाथ - सुभाऊ।
निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई।
राम - रोष - पावक सो जरई॥......
रामहिं सेवक परम पियारा।......
मानत सुख सेवक सेवकाई।
सेवक-बैर बैरु अधिकाई॥ (मानस)

पश्चात् देवगुरु ने भरत-महिमा का वर्णन किया और देवगणों को स्पष्ट घोषित किया—

मन थिर करहु देव, डर नाहीं।
भरतहिं जान राम परिछाहीं॥

तात्पर्य यह कि भक्त में भगवान् का रूप प्रतिबिम्बित होता है। भक्त का आचरण ईश्वरीय होता है। देवगणों को सम्बोधित करते हुए बृहस्पतिजी ने स्पष्ट कह दिया—

राम भगत, पर-हित-निरत, पर-दुख दुखी दयाल।
भगत-शिरोमणि भरत ते जनि डरपहु सुरपाल॥

भक्त दूसरों का अहित करनेवाला नहीं होता। वह तो स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को संकट से उबार देता है। गुजराती भक्त कवि नरसी मेहता ने भी यही भाव व्यक्त किये हैं—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाने रे।
पर दुःखे उपकार करे तो ये मन अभिमान न आणे रे।

ऐसे सन्तों और भक्तों के कार्य में, साधना में, कोई विघ्न डाले तो उस बाधक का—चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो—आसन उलट जाता है। भगवान् श्री कृष्णजी की यह अटल प्रतिज्ञा भक्त सूरदास ने मुक्त कंठ से गान की है--

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरे न टारे॥
भक्ते काज लाज हिय धरि के पाँय पयादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै तहँ तहँ जाय छुड़ाऊँ॥
मम भक्तों से बैर करे जो सो निज बैरी मेरो।
देख बिचार भक्त हित कारन हाँकत हों रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हार बिचारों।
सूरदास सुन भक्त-विरोधी चक्र सुदर्शन जारों॥

भगवान् की इस प्रतिज्ञा, अनुदृष्टि और अनुग्राहिकता पर विश्वास रखनेवाला भक्त दुराग्रही नहीं हो सकता। वह तो सच्चा सत्याग्रही होता है। यथार्थ में भक्त और सत्याग्रही पर्यायवाची

अथवा समानार्थी शब्द हैं। भक्ति के समान सत्याग्रह भी महान् कठिन साधना और तपस्या का व्रत है। जो गुण, लक्षण और साधना भक्त में चाहिए, वे सत्याग्रही को भी अनिवार्य हैं। 'सत्याग्रह' के संकल्प, नियम, धारणादि की विशेष व्याख्या न करते हुए, सत्याग्रह के प्रमुख आचार्य महात्मा गांधीजी के लेखों के कुछ उद्धरण ही इस तत्त्व को समझने के लिए पर्याप्त होंगे—

'हर एक पुरुष और स्त्री को, जो सत्याग्रही होना चाहे, सत्य की उपासना और ब्रह्मचर्य का पालन पूर्णरूपेण करना चाहिए। सत्याग्रही को अस्तेय, अपरिग्रह, अस्वाद, सर्वधर्म-समभाव का व्रती होना चाहिए। सत्याग्रही विनम्र, अशंक, अभय और दूसरों के हित में जीवन व्यतीत करनेवाला तो होगा ही। ईश्वर में विश्वास और श्रद्धा सत्याग्रही के सम्बल हैं।

'सत्याग्रह, सत्य की आराधना है। परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। परमेश्वर सत्य है, कहने के बदले सत्य ही परमेश्वर है, कहना ज्यादा मौजूँ है।...... इसलिए सत्य की आराधना ईश्वर की भक्ति है और भक्ति तो सिर का सौदा है। वह हरि का मार्ग है अतः उसमें कायरता की गुंजाइश नहीं। उसमें हार जैसा कुछ है भी नहीं। वह तो मरकर जीने का मंत्र है।'

'सत्य का मार्ग जितना सीधा है उतना सँकरा भी है। तलवार की धार पर चलने (असिधारा व्रत) के समान है। सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो देह द्वारा हो नहीं सकते। क्षणभंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं। इसलिए आखिर श्रद्धा का उपयोग करना ही होता है। इसीलिए जिज्ञासु को—

(१) अहिंसा मिली, जिसके मानी है 'सर्वव्यापी प्रेम'। इसमें उत्तरोत्तर कष्ट उठाना पड़ता है। अखण्ड धैर्य धारण करना पड़ता है। तब हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होने लगते

हैं। हमारा साहस बढ़ता, सुख में वृद्धि होती, अभिमान दूर होता और नम्रता बढ़ती है।

(२) ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन के बिना अहिंसा अशक्य है। विषय मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। इसका अर्थ है 'सर्वेन्द्रिय-संयम'।

(३) अस्वाद ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखनेवाला व्रत है। उसके मानी है स्वाद न करना। शरीर-पोषण के लिए आवश्यकता न होते हुए भी मन को धोखा देने के लिए आवश्यकता का आरोपण कर कोई चीज खाना मिथ्याचार है।

(४) अस्तेय (चोरी न करना) दूसरे की वस्तु उसकी अनुमति के बिना लेना तो चोरी है ही परन्तु मनुष्य अपनी कही जाने-वाली चीज भी चुराता है। इसका ठीक अर्थ है अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करना।

(५) अपरिग्रह (संचय न करना) इसका सम्बन्ध अस्तेय से है। जो चीज मूल में चोरी की नहीं, परन्तु अनावश्यक है उसका संग्रह करने से वह चोरी के समान हो जाती है। जैसे-जैसे हम परिग्रह कम करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और संतोष बढ़ता है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हैं या ईश्वर की ओर नहीं ले जाते वे परिग्रह हैं इसलिए त्याज्य हैं।

(६) अभय—बिना अभय के सत्य की शोध कैसी? 'हरि का मारग है शूरों का नहिं कायर का काम।' सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। काम, क्रोध आदि का भय सच्चा भय है। इन्हें जीत लें तो बाह्य भयों का उपद्रव अपने आप मिट जाय। आसक्ति दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो।

(७) अस्पृश्यता-निवारण—(तिरस्कार-निवारण) यदि आत्मा एक है तो कोई अस्पृश्य नहीं। अस्पृश्यता मिटाने का मतलब है—जगत्-मात्र के साथ मैत्री रखना, उसका सेवक बनना।

(८) शारीरिक श्रम—जो मजदूरी नहीं करता उसे खाने का भी अधिकार क्या है? सन्तोष से उद्यम-हीनता फलित न करे। जिसे सत्य की आराधना करना है, अहिंसा का पालन करना है, ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक बनाना है, उसे शारीरिक श्रम रामबाण का काम देता है।

(९) सर्वधर्म सम भाव (सहिष्णुता)—धर्मज्ञान होते ही ये अन्तराय मिट जाते और सम भाव उत्पन्न होता है।

(१०) नम्रता (अहंभाव का आत्यन्तिक क्षय) यह अहिंसा का एक अर्थ है। हमारी नम्रता शून्य तक जानी चाहिए।

सत्याग्रही की उपर्युक्त नियमावली महात्मा गांधीजी ने किसी शास्त्र या पुस्तक से उद्धरण देकर नहीं लिखी किन्तु अपनी प्रयोगानुभूति अथवा स्वानुभूति से उसे निर्धारित किया था। साधन में जिस समय जिस नियम और धारणा की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती गई, उसी समय अपने सहज ज्ञान से वे नियम बनाते गये और उनका पालन करते गये। जब सत्याग्रह की साधनाओं का मिलान हम अपने शास्त्रों में वर्णित धर्म-साधनाओं से करते हैं तो एक विचित्र साम्य दृष्टिगोचर होता है। मन्वादि स्मृतियें तथा अन्य शास्त्रों के आधार पर धर्म-साधना के दस लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

अर्थात् (१) अहिंसा (वैर-त्याग), (२) सत्य (सत्य मानना सत्य बोलना, सत्य कर्म), (३) अस्तेय (मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग), (४) ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह अथवा आत्म संयम), (५)

अपरिग्रह (अत्यन्त लोलुपता और स्वत्वाभिमान से रहित होना) ये पाँच 'यम' हैं और (६) शौच (अन्तर्बाह्य पवित्रता), (७) सन्तोष (जितना पुरुषार्थ हो सके उतना करना तथा हानि-लाभ में शोक और हर्ष न करना), (८) तप (श्रमपूर्वक, कष्ट सहन करते हुए भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान), (९) स्वाध्याय (पढ़ना, पढ़ाना, ज्ञानार्जन), (१०) ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर की भक्ति में आत्मा को अर्पित करना ये पाँच 'नियम' हैं। यम, नियम, दोनों के साधन से धर्म की साधना होती है। सत्याग्रही के व्रत और उसकी साधनाएँ इन्हीं यम; नियमों के अन्तर्गत आ जाती हैं। यही साधनाएँ भक्तियोग की हैं, यही कर्मयोग और ज्ञानयोग की। अकर्मण्यता, मिथ्या आडम्बर भक्ति नहीं; वह अभक्ति है। भक्त कवि तुलसीदासजी का निम्न पद भक्त का सजीव एवं कर्मण्य रूप अंकित करता है—

कबहुँक ऐसी रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू से कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुन, तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो॥
परहरि देहजनित चिन्ता सुख दुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥
(विनय०)

भक्त कवि ने आत्म-राज्य (सच्चे स्वराज्य) की कल्पना कर घोषित किया है कि निठल्ला, आलसी, गाँजे की दमें उड़ानेवाला, राख लपेटकर भीख माँगनेवाला, आडम्बरयुक्त व्यक्ति भक्त नहीं हो सकता। ये सब तो भक्ति-विरोधिनी क्रियाएँ हैं। भक्ति तो सच्ची उपासना है, साधना है, जो बिना तप, संयम एवं इन्द्रियनिग्रह के

कभी सिद्ध नहीं हो सकती। वह तो पूर्ण कर्मण्यता है। इस कारण सच्चे भगवद्भक्त का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वासा, हरिमार्ग की उद्यम-शीलता—जनता-जनार्दन की सेवा में व्यतीत होता है। जो भक्ति तत्त्व 'मानस' में कथन किया गया है वही गीता में प्रतिपादित किया गया है।

भक्त और सत्याग्रही दोनों अपनी टेक के धुनी होते हैं परन्तु उनकी टेक मूर्खतापूर्ण नहीं होती—

भक्ति पक्ष हठ, नहिं शठताई।

वे दृढ़-निश्चयी अवश्य होते हैं किन्तु बुद्धि और विवेक के परित्यागी नहीं होते। इसी कारण 'मानस-कवि' ने जहाँ भक्त भरत को चातक-टेक से अलंकृत किया तहाँ भरत-बुद्धि को भी हंस के विवेक से विभूषित किया है।

'चातक टेक सराहियत हंस विवेक विभूति।'

इस प्रकार के दृढ़-निश्चयी, विवेकी, कर्मण्य, धर्माग्रणी तथा सर्वस्व-त्यागी भक्तों का योग-क्षेम गीता के वचनानुसार भगवान् अपने हाथों में सुरक्षित रखते हैं।

पूर्ण निष्ठावान्, सच्चे रक्त और सत्याग्रही भरतजी का ऐसा ही विवेकयुक्त उद्देश था जिसके सम्पादन के हेतु उन्होंने अपना जीवन श्री रामजी के चरण-पद्मों में समर्पित कर उसकी सफलता संयोजित की। भ्रातृ भरत का, भक्त भरत का, सत्याग्रही भरत का यही पवित्र चारित्र तथा तत्त्वज्ञान है जो संसार को श्रेयस्कर है। उनके इसी स्वरूप और दर्शन से कृतार्थ हो सन्त कवि तुलसीदासजी ने कहा और सत्य सत्य कहा—

'सिय - राम - प्रेम - पियूष - पूरण
होत जनम न भरत को;
मुनि-मन-अगम, यम-नियम-शम-दम,
विषम-व्रत आचरत को,
दुख, दाह, दारिद, दम्भ, दूषण,
सुयश मिस अपहरत को,
कलिकाल तुलसी से शठहिं
हठ राम सन्मुख करत को ?

—